रक्कू की कहानी

अस्वस्थता का स्वरूप और बदलाव के स्त्रोत

शीला त्सूरब्रिग

रक्कू की कहानी

अस्वस्थता का स्वरूप
और
बदलाव के स्रोत

शीला त्यूरब्रिग

अनुवाद : वीणा शिवपुरी

जागोरी
JAGORI

महिलाओं का प्रशिक्षण
व सम्प्रेषण केन्द्र

प्रकाशन : 'जागोरी' पठन सामग्री - 2
मूल पुस्तक "रक्कूज़ स्टोरी"
(स्ट्रक्चर्स ऑफ़ इल हैल्थ एण्ड द सोर्स ऑफ़ चेंज)
का हिन्दी अनुवाद

प्रथम प्रकाशन - 1990

प्रकाशक :
'जागोरी'
बी-5 हाउसिंग कोऑपरेटिव सोसाइटी
साउथ एक्सटैंशन भाग - 1
नई दिल्ली - 110 049
टेलिफ़ोन : 619510

सज्जा एवं निर्माण:
डिज़ाइन एण्ड प्रिन्ट

Rs. 15/-

समर्पण

यह पुस्तक दो लोगों की यादों के प्रति समर्पित है :

एक पट्टम गाँव की इरुलई को — एक छोटी बच्ची जो हर चिकित्सा सुविधा के बीच मृत्यु को प्राप्त हुई, सिर्फ़ इसलिये क्योंकि उसका परिवार बेहद ग़रीब व महत्त्वहीन था। और उन सभी बच्चों को जिनका वह प्रतिनिधित्व करती है।

और श्री जॉन मालिएकल को जिनके प्रोत्साहन और सहायता से यह किताब यथार्थ रूप में सामने आई। उनकी अगस्त 1981 में दुःखद अकाल मृत्यु उन सबको अधिक प्रतिबद्धता से काम करने को प्रेरित करती रहेगी जो उन्हें एक कर्मठ सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में जानते थे।

प्राक्कथन

'जागोरी' के कुछ सदस्यों ने "रक्कू की कहानी" पढ़ी और उससे प्रभावित हुए। लेखिका ने बखूबी दर्द और हमदर्दी के साथ ग़रीबी और अस्वस्थता की सच्चाइयों को उभारा है। ग़रीबी और इसे बरकरार रखने वाला ढांचा बहुत अच्छी तरह से समझ में आता है।

हमने कई बार इस किताब के कुछ हिस्सों का महिलाओं के साथ स्वास्थ्य पर चर्चा के दौरान इस्तेमाल किया है। इस किताब से हमें अपनी समझ बनाने में मदद मिली। इसलिये हमने हिन्दी भाषी कर्मियों के लिये इस किताब का अनुवाद करना तय किया। सीमित साधनों की वजह से हम पूरी किताब अनुवाद करके छपवा नहीं सकते थे। लिहाज़ा हमने इस किताब के वे अध्याय चुने और अनूदित किये जिन्हें हमने स्वास्थ्य और ग़रीबी के मुद्दों को समझने के लिये एकदम ज़रूरी समझा। किताब के २२० पृष्ठों में से हमने क़रीब सौ पृष्ठों का अनुवाद किया है। अगर आप पूरी किताब पढ़ना चाहते हैं तो अंग्रेज़ी में ही पढ़नी होगी। वैसे "रक्कू की कहानी" की अंग्रेज़ी कठिन नहीं है। हमें उम्मीद है कि आपको भी यह किताब उतनी ही पसन्द आयेगी जितनी हमें आई है और आपके स्वास्थ्य व विकास सम्बन्धी कार्य को इससे मदद मिलेगी।

आपकी प्रतिक्रिया जानने की इच्छा 'जागोरी' को हमेशा होती है इसलिये आपके सुझावों का हमें इंतज़ार रहेगा।

'जागोरी' समूह

विषय - सूची

परिचय : अस्वस्थता का स्वरूप और बदलाव के स्रोत 1

भाग - 1

रक्कू की कहानी 9

भाग - 2

अस्वस्थता का ग्रामीण दृष्टिकोण 35

अस्वस्थता का आर्थिक आधार 38

1. मेहनतकश ग्रामीण परिवारों का अर्थ 38
2. बच्चों का आर्थिक योगदान 40
3. ग़रीबी रेखा 41
4. औरतें और अस्वस्थता 47

अस्वस्थता : मिथक और सच्चाइयाँ 49

1. अस्वस्थता का बोझ किन पर 49
2. मृत्युदर के कारण 50
3. कौन से छोटे बच्चे ? 52

भाग - 3

अस्वस्थता की पुनर्व्याख्या 59

भाग - 4

केरल : एक शुरूआत 65

कार्रवाई के लिये आवश्यक केन्द्र बिन्दु 73

1. सामाजिक कार्रवाई : व्यक्तिगत जुड़ाव 73
2. सामाजिक कार्रवाई : सामूहिक जुड़ाव 80
3. जागरूकता लाने की प्रक्रिया तथा संगठन 85

परिचयः
अस्वस्थता के स्वरूप और बदलाव के स्रोत

यह किताब भारत के उन लोगों के बारे में है जो अभी भी बीमारी और खराब सेहत की ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं। यह अस्वस्थता का विश्लेषण है परन्तु आम ढंग का विश्लेषण नहीं बल्कि कुछ अलग हट कर। जैसे कि इसकी शुरुआत आले (स्टेथेस्कोप) की मार्फ़त लोगों के शरीर की जाँच से नहीं, बल्कि लोग कहाँ और किस तरह रहते हैं इसकी जाँच से होती है।

यह किताब चार हिस्सों में लिखी गई है। पहला भाग 'रक्कू की कहानी' दक्षिण भारत में रहने वाली एक देहाती औरत की कहानी है जो अपने बच्चों में से एक की ज़िन्दगी बचाने के लिये संघर्ष करती है। उसकी कहानी कतई अजूबा नहीं है। ग्रामीण भारत में स्वास्थ्य सेवाएं चाहने वाले सारे मेहनतकश ग़रीब ऐसी ही मुश्किलों का सामना करते हैं। यह कहानी वास्तविक है और उन सब लोगों के लिये श्रद्धांजलि के तौर पर लिखी गई है जो इसी तरह के संघर्षों और अन्यायों के बीच जीते हैं। परंतु यह उस विश्वास के साथ भी लिखी गई है कि देश में अस्वस्थता सम्बन्धी किसी भी लाभदायक विश्लेषण की शुरुआत यहीं से होनी चाहिये यानि कि लोग कहाँ और कैसे जी रहे हैं।

रक्कू की कहानी का इस्तेमाल अस्वस्थता तथा बेवजह मृत्यु के कारणों की गहरी समझ पैदा करने के लिये एक आधार या एक सीढ़ी की तरह किया गया है। अतः किताब के दूसरे भाग में बाकी तमाम समाज के सन्दर्भ में इस औरत की ज़िन्दगी को नज़दीक से देखा गया है। किस तरह से इसकी ज़िन्दगी भारत की उन औरतों से अलग है जिनके बच्चों को मरना नहीं पड़ता। इसकी कहानी से जन्मने वाले सवाल हमारे विश्लेषण को कदम दर कदम राह दिखाते हुये, उसके घास मिट्टी के झोंपड़े से बाहर, गाँव से आगे यहाँ तक कि उस अस्पताल से परे जहाँ वह अपने मरते हुये बच्चे को ले गई थी, पूरे भारतीय समाज के ढाँचे और तौर-तरीकों तक ले जाते हैं। इस नज़रिये से ग़रीबी न सिर्फ़ अस्वस्थता

की बुनियादी वजह नज़र आती है बल्कि इसके कारण ही बहुसंख्यक ग़रीब सरकारी स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था का इस्तेमाल करने में ही नहीं वरन कोई बदलाव लाने में भी असमर्थ दिखाई पड़ते हैं।

अध्ययन के तीसरे भाग में भारत की वर्तमान स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था के ढाँचे और उसकी मान्यताओं को देखा गया है तथा यह भी जाना है कि किस प्रकार इसकी ऐतिहासिक जड़ें पश्चिम के चिकित्सा और सामाजिक नमूने से मिलती हैं। इस भाग में आर्थिक और राजनीतिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ताक़तों को भी परखा गया है, जो ऐसी स्वास्थ्य व्यवस्था को बनाती और पालती हैं जो साफ़ तौर पर बहुसंख्यकों की ज़रूरतों के लिये नाकाफ़ी ही नहीं बल्कि कई बार तो बेमानी भी होती हैं।

इस कोशिश के दौरान हमारे विश्लेषण ने उस उदारवादी विकास परिकल्पना की कमज़ोरियों को भी उजागर किया है जो आज भी भारत में सरकारी तथा स्वैच्छिक स्वास्थ्य सेवा कार्रवाइयों पर हावी है।

अंत में विश्लेषण के चौथे भाग में उन सामाजिक - राजनीतिक हालात का जायज़ा लिया गया है जो स्वास्थ्य सुधार की नींव बन सकते हैं। इस प्रकार से यह अन्तिम भाग परिवर्तन लाने के लिये कुछ ऐसे ख़ास प्रस्तावों तक ले जाता है जो यह मान कर चलते हैं कि अस्वस्थता और सामाजिक अन्याय की समस्याओं के हल की एक मात्र शुरुआत ग़रीबों द्वारा सामूहिक दबाव डालने से ही हो सकती है।

रक्कू की कहानी और उसका विश्लेषण उन अनुभवों पर आधारित है जो मैंने 1975 और 79 के बीच दक्षिण तमिलनाडू में एक ग्रामीण स्वास्थ्य परियोजना के साथ अपने जुड़ाव के दौरान पाये। इन पन्नों में 'ग्राम स्वास्थ्य सेविका' का प्रशिक्षण पाने वाली तेईस औरतों समेत इस परियोजना में काम करने वाले सभी मर्दों व औरतों की समस्याओं और सफलताओं की झलक मिलती है। हममें से वे लोग जो ग्रामवासी नहीं थे इन कुछ सालों में ग्रामीण अस्वस्थता की सच्चाइयों के बारे में बहुत कुछ सीख सकें। गाँव की औरतों (उनमें से कई पारम्परिक ग्रामीण दाइयाँ थीं) में अपने समुदाय की बुनियादी स्वास्थ्य ज़रूरतें पूरी करने की असीम क्षमता ने हमें आश्चर्य-चकित कर दिया। हमें यह जान कर भी ताज्जुब हुआ कि तकनीकी संगठन स्थापित करना न तो मँहगा था और न ही मुश्किल। बालमृत्यु दर आधी से भी कम कर पाने जैसी बड़ी सफलता के बावजूद यह स्पष्ट हो गया कि धरातल पर काम करने वाले कार्यक्रमों की भी बहुत सीमित हदें हैं। यह हदें स्वास्थ्य तकनीकों के कारण नहीं थीं बल्कि गाँव के अधिकांश परिवारों में फैली ग़रीबी और स्थानीय व बड़े स्तर पर भी उनकी सामाजिक

आर्थिक शक्ति हीनता के कारण थीं। इन पाँच सालों की समाप्ति की ओर पहुँचते-पहुँचते परियोजना के आरंभिक कार्यकर्ता यह देख कर हताश थे कि धीरे-धीरे परियोजना का नियंत्रण गाँव वालों के हाथों से निकल कर उन बाहरी लोगों के हाथों में पहुँच गया था जिनके हित प्राथमिक तौर पर गाँव के ग़रीबों से अलग थे। इसके परिणामस्वरूप परियोजना की कार्यवाइयों का स्वरूप तोड़ा-मरोड़ा गया और कार्यक्रम ठप्प हो गया। बड़े दुःख के साथ जो बात सामने आई वो यह थी कि हालांकि इन कुछ सालों में उन तेइस गाँवों के मेहनतकश परिवारों के स्वास्थ्य स्तर में सुधार हुआ था लेकिन समाज के जमे-जमाये शक्ति ढाँचे का सामना करने या उसे बदल पाने के क्षेत्र में वे अब भी उतने ही पर निर्भर और कमज़ोर थे जितना कि पहले। इस प्रकार से इस किताब का उद्देश्य सबसे निचले स्तर पर लगातार क़ायम रहने वाले अस्वस्थता और भूख के मुख्य कारणों का भाँडा फोड़ करना है और उस सामाजिक ढाँचे को उजागर करना है जो ग़रीबों को पर्याप्त भोजन (पोषण) मिल पाने के रास्ते में रोड़े अटकाता है, वह भोजन जो खुद उन्होनें पैदा किया है। यह विश्लेषण एक कोशिश है— कि अस्वस्थता के बारे में समझ को, भारतीय समाज में फैली ग़रीबी और सभी साधनों के पूर्णतया असमान बँटवारे पर केन्द्रित किया जाये। इस उम्मीद के साथ कि इन बुनियादी मुद्दों को हमेशा से दिये जाने वाले झूठे बहानों के नीचे दबाना और स्वास्थ्य व विकास योजनाओं की पैबन्दी कार्रवाइयों के पीछे छिपाना खत्म हो।

हालांकि इस किताब के शुरु के अध्यायों में स्वास्थ्य व्यवस्था की विशेष समस्याओं की तथा ख़ास पेशेवर समूहों के रवैये की ओर नज़र डाली गई है लेकिन उसका मकसद समाज के भीतर कुछ लोगों पर दोषारोपण करना या खामियाँ ढूँढना नहीं है क्योंकि उससे कोई फ़ायदा होने वाला नहीं है बल्कि यह मानना पड़ेगा कि कई स्वास्थ्य कार्यकर्ता और अधिकारी आम आदमी की भलाई के लिये बहुत जोश और प्रतिबद्धता के साथ काम कर रहे हैं, आलोचनात्मक ढंग अपनाने की वजह सिर्फ़ यह है कि उन गहरी सामाजिक ताक़तों और ढाँचों को सामने लाया जाये जो स्वास्थ्य व्यवस्था में छिपी ख़ास कमज़ोरियों का असली कारण हैं। इस प्रकार से अस्वस्थता का यह विश्लेषण वास्तव में समाज में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढाँचों तथा क्रियाशील ताक़तों को दर्शाने वाला झरोखा है।

इस प्रकार के गहन विश्लेषण की ज़रूरत इसलिये भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि आजकल विकासशील देशों में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय रूप से रुचि जाग रही है। इस रुचि के पीछे काम कर

रहे उद्देश्यों में निश्चित रूप से सच्ची मानवीय चिन्ता भी एक है परन्तु अन्य बातों के अलावा पश्चिमी विकास संस्थाओं द्वारा यह भी महसूस किया जा रहा है कि जनसंख्या नियंत्रण नीतियों की सफलता के लिये ज़रूरी है कि कम से कम एक सीमा तक बच्चों के स्वास्थ्य स्तर को सुधारा जाये। अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि सामने नज़र आने वाले उद्देश्यों के अलावा कुछ अन्य उद्देश्य भी हैं अतः इस विश्लेषण का एक मकसद, स्वास्थ्य मुद्दों और सामाजिक आर्थिक अन्यायों के बीच के अटूट सम्बन्ध को सामने लाकर इन प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं के प्रयत्नों की कमज़ोरियों और खतरों को ज़ाहिर करना है। एक ख़ास देहाती औरत के वास्तविक संघर्ष की कहानी से इस विश्लेषण का आरंभ करने पर यह प्रश्न उठता है कि दक्षिण तमिलनाडू की यह सच्चाइयाँ किस हद तक पूरे देश का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह ठीक है कि खेतिहर मज़दूर के रूप में रक्कू की ज़िन्दगी अन्य प्रान्तों के मज़दूर परिवारों से अनेक बातों में भिन्न है, देश के अलग-अलग हिस्सों बल्कि एक ही प्रान्त के ज़िला अस्पतालों और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के ढाँचों और कामकाज के ढंग में भी अन्तर होगा फिर भी इस एक औरत के संघर्ष के माध्यम से देश के सभी भागों के मज़दूर परिवारों के सामान्य मुद्दों और अड़चनों की पहचान करना संभव तथा सही मालूम होता है। कुछ सवाल और मुद्दे किसी विशेष के हवाले से ही अच्छी तरह पहचाने जा सकते हैं।

विश्लेषण का उद्देश्य है कि वह पाठकों को, चाहे वे स्वास्थ्य कार्यकर्ता हों या कोई अन्य, इस बात के लिये प्रोत्साहित करे कि वे रक्कू की कहानी से पैदा होने वाले सवालों को उस ख़ास इलाके या हालात, जहाँ वे रहते और काम करते हैं, पर लागू करें। देश में व्यर्थ मृत्यु और अस्वस्थता के बुनियादी कारणों की समझ पैदा करने के लिये विशेष विस्तार की जगह पर इस अध्ययन की विधि और उसका नज़रिया महत्वपूर्ण है साथ ही यह इसमें भी मदद करेगा कि स्वास्थ्य व सामाजिक न्याय के विशाल राष्ट्रीय संघर्ष के लिये कौन सी कार्रवाई संगत है।

अंत में, यद्यपि यह विश्लेषण भारतीय स्वास्थ्य व सामाजिक व्यवस्था पर केन्द्रित है परन्तु यह बात स्पष्ट है कि इन पृष्ठों में देखी-परखी जाने वाली समस्याएं और विरोधाभास किसी भी प्रकार से केवल भारत के ही नहीं है। ये बुनियादी मुद्दे तो अनेक या यूं कहें कि तृतीय विश्व के लगभग उन सभी देशों पर (कई पश्चिमी देशों पर भी) लागू होते हैं जहाँ कहीं भी स्वास्थ्य सेवा में असमानता तथा अगम्यता की समस्याएं मौजूद हैं।

इस अर्थ में रक्कू की कहानी तथा उसका विश्लेषण उन सारे मिथकों को तोड़ने में योगदान देता है जो संसार में लगातार क़ायम सामाजिक अन्याय और कुस्वास्थ्य के लिये बहाने के तौर पर इस्तेमाल किये जाते रहे हैं। इसी विस्तृत परिप्रेक्ष्य के भीतर यह कहानी और विश्लेषण लिखा गया है।

भाग - 1

रक्कू की कहानी

रक्कू की कहानी

सूरज उगने को अभी घंटा भर बाकी था। किसी डरावने सपने से चौंक कर उसके दुधमुँहे बेटे ने करवट बदली और माँ से सट गया। रक्कू की आँखें खुल गई। चारों ओर अभी अंधेरा था। वो धीरे से उठी और चुपचाप एक और दिन की तैयारी शुरू कर दी। उसकी मिट्टी और फूस की झोपड़ी के आगे के तंग बरामदे में उसका पति अभी सोया हुआ है। वो पिछले आँगन में निकली। घड़े से एक लोटा पानी लेकर मुँह पर छिड़का और चूल्हे से राख की चुटकी लेकर दाँत माँजने लगी।

अभी मार्च महीने की शुरुआत ही है पर अभी से दुपहरिया की गर्मी जानलेवा होने लगी है। गर्मियों का मौसम नज़दीक आता जा रहा है। दाँतों पर उंगली रगड़ते हुये उसकी नज़र आसमान की ओर उठ गई। वो भी जैसे दम साधे पड़ा था। तारों को देख उसे याद आया कि जल्दी ही देवी मरियम्मा का समय आने वाला है और फिर छोटे बच्चों वाले घरों में माता के दानों के रूप में देवी आयेगी, उसके साथ ही उसे अपने ग्यारह महीने के बेटे का ध्यान आ गया जो अभी कुछ देर पहले ही उसकी छाती से सटकर सोया हुआ था। उसके बदन में झुरझुरी सी आ गई। एक गहरी सांस के साथ उसने मन ही मन माँ की मनौती की — अगले दिन इन तारों के आसमान पर निकलने से पहले ही वो देवी के आगे माथा टेकेगी। देवी का मन्दिर गाँव के आखिरी छोर पर था। उसने कुल्ला किया और अपने बिखरे बालों को समेट कर जूड़े में बाँध लिया। वह एक और लोटा पानी लेकर कमरे में घुसी जहाँ सब लोग अभी भी सोये हुए थे और फिर सामने के दरवाज़े से बाहर निकल आई। झोपड़ियों के बीच की संकरी गली से निकल कर अब वो खुले मैदान में आ गई। इसके परे सूखी झाड़ियों की आड़ में ही औरतें निपटने के लिये जाती थीं।

कुछ ही मिनटों बाद जब रक्कू लौटी तो उसका छोटा बेटा नींद में कुनमुना

रहा था। जैसे ही उसने बच्चे को चटाई से उठाकर गोद में लिया वो माँ की ढीली अंगिया टटोलने लगा अभी भी सूरज उगने में आधा घंटे की देरी है। गाँव के दूसरे कोने पर बने कुँए पर जाने से पहले शाम के दलिये के लिये रागी कूटने और झाड़ू देने का समय है। उसने पोन्नू को हल्के से हिलाया। पोन्नू उसकी पाँच साल की बेटी है, जो अभी भी सोयी पड़ी थी। उसने धीरे से उसे झिड़का कि जल्दी से हाथ मुँह धोकर आग जलाने के लिये सूखी लकड़ी बटोर कर लाये। बेटी उस अंधेरे कमरे से उठी और माँ के हाथ से पानी का लोटा लिया। उसने भी माँ की तरह अपने चेहरे पर पानी छिड़का और फिर दाँत साफ़ किये। मिट्टी की दीवार में बने छोटे से ताक से रक्कू ने एक प्लास्टिक का कंघा उठाया और चोटियाँ गूंथ दी। मुड़े तुड़े पीले रिबन की गाँठ बाँधते-बाँधते उसने बेटी को पेरियासामी के खेतों के रास्ते में पड़ी सूखी लकड़ियों की जगह भी समझा दी। आखिरी गांठ बाँध कर उसने लड़की की पीठ पर हल्की सी थपकी दी कि जल्दी से लकड़ियां ले आ रात का बचा दलिया गर्म करना है।

दीवार के परे आसमान हल्का-हल्का साफ़ होने लगा था। उसने रागी की आखिरी मुट्ठी भरकर काले पत्थर की कुंडी के गढ़े में डाली। ये औरत का सबसे मुश्किल काम है ख़ासतौर पर अब, जब कूटने में मदद देने को उसकी सास भी नहीं रही। बुढ़िया को मरे कई साल हो गये, सो अब भारी लकड़ी के डंडे की हर थाप के साथ रक्कू की कमर ही टूटती है। वो डंडा एक बार इस हाथ से थामती है तो दूसरी बार उस हाथ से और खाली हाथ से बड़ी सफ़ाई के साथ अनाज को वापिस गढ़े में धकेलती जाती थी। उसे कूटने में मदद के अलावा सास की हल्की गुनगुनाने की आवाज़ की भी उतनी ही याद आती है। अकेले गाने में वो आनन्द नहीं। वैसे उसके सोये बच्चों की सुबह की कच्ची नींद में माँ की आवाज़ कितनी तसल्ली देती होगी, उसे मालूम है। बरसों पहले उसे भी अपनी माँ का गुनगुनाना कितना भला लगता था।

कुटी हुई रागी उसने भिगो दी और पीतल की गागर राख और मिट्टी से चमकाने लगी। गागर उठाते ही उसके होठों पर हल्की सी मुस्कान आ गई। ये ही तो उसकी सहेजी हुई सम्पति है। शादी के वक्त माँ बाप ने दी थी। पुरानी यादों को झपटकर उसने एक मिट्टी का घड़ा और रस्सी-बाल्टी उठाई और गाँव के कुँए की ओर चल दी। कुँए पर औरतों की भीड़ का ख्याल आते ही उसने अपनी चाल तेज़ कर दी पर जब तक वो वहाँ पहुँची पहले से ही कई औरतें इन्तज़ार कर रही थीं और अपनी बारी के लिये धक्का मुक्की शुरू हो चुकी थी। सबके मिजाज़ गर्मी पर थे। उसने अपने चारों ओर की औरतों की तरफ देखा।

ज़्यादातर बूढ़ी औरतें थीं जो अब खेत पर काम नहीं कर सकती थी या फिर छोटी लड़कियाँ पोन्नू से ज़रा ही बड़ी होंगी। रक्कू ने तसल्ली की सांस ली। एक-दो साल में पोन्नू भी पानी भरने लायक हो जायेगी तब कम से कम वो खेत पर देर से पहुँचने पर मालिक से जो डाँट खाती है, उससे बच जायेगी।

उसकी बारी आने पर उसने कुँए की जगत पर झुक कर बाल्टी खींची और दोनों बर्तन धोये। जल्दी ही गागर और घड़ा उठाकर उसने कमर पर सधाया। खाली हाथ से गागर को संभालते हुए वो मुड़ी और आंखों ही आंखों में उसने दूसरी औरत का धन्यवाद किया जिसने दूसरा घड़ा उठाने में उसकी मदद करी थी और अपने घर की गली की तरफ चल पड़ी। घर पहुँच कर रक्कू ने धीरे से पोन्नू को पुकारा। बिटिया ने जल्दी से माँ की कमर पर सधे घड़े को उतारा और खुशी से फूली हुई उछल कर माँ को बताने लगी की किस तरह उसे तीन खूब मोटी सूखी लकड़ियाँ मिल गई है। बासी दलिया गरमाने भर को थोड़ी सी आग जली थी। पीछे की झोपड़ियों की दरारों में से दिखाई देती फूस की दीवार पार करके सूरज की पहली किरणें झाँक रही थी। रक्कू अपने पति कर्रुपय्या को हिलते-डुलते सुन सकती थी। रक्कू ने पोन्नू के हाथ पानी का लोटा भिजवाया। उसका बड़ा बेटा कन्नन चूल्हे के धुयें और सूरज की रोशनी में उनींदीं आँखें मिचमिचाता दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ। कन्नन खूब तेज़ और शैतान है, अपने छोटे दुबले से शरीर की ताक़त से कहीं ज़्यादा। रक्कू ने चौड़ी सी मुस्कान भर के देखा। अपने इस बेटे के पीछे जान देती है। हर उस हिन्दुस्तानी औरत की तरह जिसने पहलौठी के बेटे को जन्म देने का सुख जाना हो। उसके जन्म की याद, आज भी उतनी ही ताज़ा है जितनी आठ साल पहले थी, पर उसे ये भी याद है कि आज सुबह के लिये कन्नन लकड़ियाँ लाना भूल गया था तो उसे नाराज़ होना है। सच तो यह है कि कन्नन ने हमेशा की तरह लकड़ियों का गट्ठर बनाया था पर तभी अपने दोस्त की गायें बन्ड के पीछे छिपा देने की मज़ेदार शैतानी के चक्कर में उसे नीचे रख दिया और फिर जब एकाएक गायें भाग खड़ी हुई तो उनके पीछे दौड़ते-दौड़ते लकड़ियों की बात भूल ही गया। जब तक वह गायें फिर से इकट्ठी कर पाया, सूरज ढले देर हो चुकी थी और उसे खाली हाथ घर लौटना पड़ा। सारे रास्ते उसके सभी दोस्त बड़ी बेदर्दी से उसे चिढ़ाते रहे। उसने माँ को अपने खाली हाथ लौटने की वजह नहीं बताई थी पर रक्कू ने ऐसी ही किसी कहानी का अनुमान लगा लिया था। रक्कू ने झोपड़ी के कोने से झाड़ू उठाई और कमरा और आँगन बुहारने लगी। बिना आँखें ऊपर उठाये वो कन्नन को उसकी शैतानियों

के लिये डाँटने भी लगी। उसे मालूम था कि अगर नज़र भर बेटे की ओर देखा तो मुस्कराए बिना नहीं रह पायेगी। डाँट खत्म हुई तो कन्नन ने जल्दी से मिट्टी की हंडिया में झांका। वैसे उसे मालूम था कि पिता के मैदान होकर लौटने तक उसे इन्तज़ार करना पड़ेगा।

पोन्नू ने फटी चटाइयाँ उठा ली, ताकि माँ वो छोटा सा कमरा पूरी तरह झाड़ सके। रक्कू ने घर के दरवाज़े के सामने गली का भी थोड़ा सा हिस्सा बुहारा और उस पर पानी छिड़क दिया। उसने खड़िया चूरे के डिब्बे के लिये पोन्नू को पुकारा फिर झुककर अगूंठे और उंगलियां के बीच सफ़ेद चूने की चुटकी भर, गीली ज़मीन पर कोलम बनाने लगी। हर सुबह गाँव के ज़्यादातर घरों की दहलीज़ के बाहर ये खूबसूरत नमूने उभर आते हैं - भगवान और मेहमानों के स्वागत के पहले से चले आये चिन्ह। ये जालीनुमा नमूने जल्दी ही आने जाने वालों के पैरों तले मिट जाते हैं पर थोड़ी ही देर के लिए सही ये सुन्दरता ज़रुरी है।

जैसे ही वो घर में घुसने को झुकी, छत पर छाई फूस में उसे कई छेद नज़र आये। ये फूस एक और मौसम की बारिश और सर्द हवा शायद ही निकाल पाये, उसने सोचा। पर फूस बदलना भी तो बहुत मंहगा है। ग़रीब परिवार बार-बार होने वाले इस ख़र्चे से बड़ा घबराते हैं। इस साल तो कुछ भी बचत नहीं हो पाई। रक्कू की फटी, जगह-जगह रफू की हुई साड़ी बदलने भर को भी नहीं। यानि फिर एक महाजन से उधार लेना पड़ेगा वरना अगले साल सिर पर छत नहीं होगी। उधार लेने का ख्याल आते ही उसके चेहरे पर दर्द की लकीरें उभर आई और वो घर के भीतर चली गई।

उसका पति अभी ही लौटा था उसने ज़मीन पर चटाई बिछाई। रक्कू ने कन्नन को हल्के से परे धकेल कर पति के सामने दलिये की थाली रखी। उसने थोड़ी बची हुई सूखी मिर्चों में से एक मिर्च उंगलियों से चूरा की और दलिये के हर निवाले में मिला कर खाने लगा। जब उसने खाना खत्म किया तो रक्कू की ओर देखकर बोला "अगले हफ्ते फ़सल कट जाने पर हम लोग चावल का भोजन कर पायेंगे।" उसने सिर हिला दिया और कहा - "हाँ और अगले महीने "चित्राई" त्यौहार की खुशी में शायद एक कटोरा सांभर भी बना सकें"। पिता के खा चुकने पर पोन्नू और उसका भाई चटाई पर बैठ गये और बेस्वाद दलिये के दावत के व्यंजनों को चटखारे के साथ खाने लगे। रक्कू ने हंडिया में बाकी बचा दलिया उलट लिया और एक हाथ से बच्चे को थामे दूसरे हाथ से खाने लगी। उसने ब्लाउज़ ढीला किया और छोटे को दूध पिलाने लगी साथ ही खुद जल्दी-जल्दी दलिये के निवाले निगलने लगी। अपनी थाली के कोने में थोड़ा

सा दलिया छोड़कर पोन्नू को कहा कि ये दोपहर को छोटे भाई को खिला देना। सिर हिलाते हुए एक बार फिर उसने कहा "बेटी छोटे भाई के लिए है, तुम्हारे लिए नहीं।"

पोन्नू ने सिर हिलाया पर मुड़ते-मुड़ते उसके होंठ कस गये। कर्रूपय्या काम पर जा चुका था। ज़मींदार के खेतों पर जाने से पहले वो रास्ते की दुकान पर रुककर पनीली कॉफ़ी का एक कप पियेगा। कन्नन हाथ धोने को उठा और कई गिलास पानी पीकर वो भी दिन भर के लिये मवेशी चराने को घर से निकल पड़ा। सात बरस की उम्र से ही वो कई ज़मींदार घरों के जानवरों को दिन भर चराकर घर की कमाई में हाथ बँटा रहा है। मैदान गाँव से क़रीब एक किलोमीटर दूर है पर कई बार वो पशुओं को खेतों की मेढ़ के पास-पास से ले जाता है। यहाँ की ज़मीन में नमी होने के कारण कुछ थोड़ी बहुत घास उग आती है। ज़मींदारों को मालूम है कि कन्नन जानवरों की अच्छी देखभाल करता है और कन्नन के परिवार के लिये भी उसकी कमाई कम सही पर ज़रूरी है।

जब से ये बेटा पैदा हुआ था रक्कू ने सपना देखा था कि उसका बेटा स्कूल जाकर पढ़ेगा लिखेगा परन्तु चार साल पहले उसके पति को मजबूरन अपनी छोटी सी ज़मीन बेचनी पड़ी थी और तब बेटे की कमाई की ज़रूरत ने उन सपनों को बिखरा दिया था। हर सुबह जब रक्कू उसे काम पर जाते देखती है तो उसका मन पछतावे से भर उठता था।

गली में से निकलने वाली औरतों के बतियाने की आवाज़ ने उसे याद दिलाया कि काम को देर हो रही है। उसने जल्दी से बच्चा पोन्नू को थमाया, हाथ धोए और घर से निकल पड़ी। उसे पोन्नू पर भी बड़ा गर्व है मुश्किल से पाँच साल की है पर उसके भरोसे रक्कू घर और बच्चा दोनों छोड़कर काम पर जा सकती है। उसे उन औरतों पर तरस आया जिनके घर में बच्चों को संभालने के लिये कोई नहीं है और उन्हें मजबूर होकर घर में ताला लगाकर बच्चों को निपट अकेले दरवाज़े के बाहर छोड़कर आना पड़ता है। कम से कम उसके अपने बच्चों को दिन में देखने के लिए परिवार का कोई न कोई जना हमेशा रहा है चाहे उसके इस चौथे बच्चे के लिये छोटी सी पोन्नू ही क्यों न हो।

रक्कू गलियों में से दौड़ते हुये निकली ऊँचे वर्ण के लोगों के मन्दिर को पार किया। उसने देखा पेरियासामी के खेतों की ओर जाने वाली मेढ़ पर और औरतें भी दौड़ रही हैं। ये खेत गाँव से क़रीब एक किलोमीटर दूर है। औरतें अपने दिन के खाने के लिये लौट नहीं पाती और इसीलिये कुछ ने अपने सिर पर दलिये की हंडिया भी रखी हुई है। उसने गाँव के ताल के साथ-साथ मोड़ पार

किया। इसके एक कोने में अभी भी पानी का एक चकत्ता है। दो लड़के उस गंदले पानी में भैंसों को नहला रहे थे। और उनकी पीठ की सवारी कर के खेल रहे थे। कन्नन भी अपने जानवरों को नहलाने यहाँ लाता है। अभी से सूरज चढ़ आया था और तलैया का गंदला पानी भी दावत देता सा लग रहा था। रक्कू ताल के बन्द पर दौड़ती हुई उस संकरी मेड़ पर आ गई जिसके परे खेत हैं और जल्दी ही उसने अपनी साथिनों के साथ कदम मिला लिये।

इस साल भूमिपतियों के खेतों में खूब बढ़िया फ़सल हुई। कुछ साल पहले ही उन्होंने सरकार से उधार लेकर सिंचाई के लिये पम्प लगवाया था। तभी से गाँव के इधर की ज़मीन के लिये काफ़ी पानी मिल जाता था भूमिहीन किसानों की औरतों को उनकी ज़मीनों पर काम भी मिल जाता था। हर फ़सल पर उन्हें काम मिल सके इसके लिए हर एक कोशिश करती थी कि वो जब मालिक चाहे तब काम के लिए मौजूद रहे। कुछ ग़रीब छोटे काश्तकार जिनकी अपनी भी थोड़ी सी ज़मीन थी, वो भी पहले बड़े भूमिपति के खेत पर काम करते थे फिर अपने खेतों पर। अपने खेतों पर वो तभी काम कर सकते थे जब भूमिपति की पूरी फ़सल कट जाये। जब तक औरतें खेतों पर पहुँची उनके माथे पर पसीना चमक आया था और सांस फूलने लगी थी। पहुँचते ही भूमिपति के कर्मचारी ने उन पर चिल्लाना शुरू कर दिया। सभी औरतें जल्दी से खेत में चारों और फैल गयीं और कमर में खोंसी दराँती निकाल कर कमर दोहरी किये अनाज की सुनहरी बालियाँ काटने लगीं। जैसे ही रक्कू ने काटने के लिए बालियों का एक और गुच्छा पकड़ा उसकी पीठ और कंधों में उठी तीखी टीस ने उसके हाथ बेजान कर दिये। रक्कू ने दरांती नीचे गिरा दी और धीरे-धीरे पीठ सीधी की। दोपहर ढलने लगी थी दूध से भारी उसकी छातियों में भी दर्द उठ रहा था। सुबह घर से निकली थी तभी से बच्चे को दूध नहीं पिलाया था। उसने पल्ले से माथे और गर्दन पर बहती पसीने की धारें पोंछी। सूरज पेड़ के पीछे के नारियलों के गाछ तक उतर आया था पर उसकी तेज़ी में ज़रा भी कमी नहीं आई थी। उसकी पड़ोसिन और सहेली मुथुम्मल ज़रा दूर पर ही काम कर रही थी। रक्कू ने देखा कि वह हाथ हिला-हिला कर इशारा कर रही थी कि वो लोग कटी फ़सल का बोझा ले जाने को तैयार हैं। उसने झुककर एक गट्ठर उठाया और धीरे से सिर पर संतुलित किया, फिर झुकी, तब तक भूमिपति के आदमी ने एक और गट्ठर उसके सिर पर रख दिया। धान का गट्ठर इतना भारी था कि संतुलन बनाये रखने के लिये उसे अपनी रीढ़ की हड्डी को एकदम तान कर रखना पड़ रहा था। बालियाँ उसके दोनों तरफ कमर तक लटक रही थी

और चेहरा तो क़रीब छिप ही गया था। मुथुम्मल के दौड़ते पैरों की आवाज़ सुनी और पास से निकलते हुए उसके दो पैर और साड़ी की कोर भर ही देखी। रक्कू भी उसके पीछे चलने को मुड़ी और हल्के-हल्के दौड़ने लगी। हर कदम पर थोड़ा सा उछाल लेती हुई इस चाल से क्षणभर को कमर और गर्दन से दबाव हट जाता था और थोड़ी राहत मिल जाती थी। खेतों की शतरंजी के बीच से गुज़रती इन औरतों की भीड़ से कभी-कभी फूलती सांसों के साथ किसी गीत की लय भी सुनाई पड़ जाती है। फ़सल काटने के बाद बचे नुकीले सरकण्डे रक्कू के टखनों को छील रहे थे। पैर के तलुओं की चमड़ी तो बचपन से ही चमड़ा बन चुकी है जहाँ कुछ भी महसूस नहीं होता।

गाँव के किनारे पर मैदान में पहुँच कर रक्कू ने देखा कि धान की देवरी के बाद बचे पुआल के पहाड़ के ऊपर उसका पति खड़ा है उसकी तरफ उछाले गए पुआल के गट्ठरों को हवा में ही थाम लेता है और फिर अपने चारों ओर बिछा देता है। पति को काम में व्यस्त देखकर मन कैसा पुलकित हो जाता है, क्योंकि महीनों हफ्तों तक कई बार वो खाली ही बैठा रहा है। बस, दो या तीन दिनों में पेरियासामी के खेतों का काम खत्म हो जायेगा और वे लोग अपनी मेहनत के हिस्से का थोड़ा सा चावल लेकर घर लौटेंगे। जैसा कि रिवाज़ था कि भूमिपति फ़सल में से तिहाई अपने लिये आपस में बाँट लेते हैं।

जैसे ही हर औरत देवरी के मैदान पर पहुँचती अपने सिर का बोझ ज़मीन पर पटककर फिर एक किलोमीटर दूर खेतों की ओर चल पड़ती थी, अगला बोझ लाने के लिए धान का आखिरी गट्ठर लाते-लाते तक सूरज क्षितिज को छूने लगा था, खूब बड़ा लाल चमकता हुआ गोला। खेतों से मैदान तक धान लाना बड़ी सख्त मेहनत थी पर इसको करते हुए औरतों को एक राहत और हल्केपन का अहसास होता था क्योंकि अपने बाल बच्चों का पेट भरने की अन्तहीन जद्दोजहद में तैयार फ़सल का दृश्य उन्हें अगले कुछ महीनों के लिए पेट की चिन्ता से मुक्ति का आश्वासन देता था। मुथुम्मल और अन्य औरतों के साथ लौटते हुए उसका अंग-अंग थकान से चूर हो रहा था फिर भी भूख से रोते हुए छोटे बच्चे का ख्याल आ रहा था और वो तेज़ी से गलियों में पाँव बढ़ाती जा रही थी। अभी, सुबह कुटी हुई रागी पकानी थी, फिर मंदिर में माथा टेककर देवी की मानता भी पूरी करनी थी।

अंधेरे में डूबे दरवाज़े के पास पोन्नू रोते रिरियाते बच्चे को गोद में लिये खड़ी थी। हाथ बढ़ाकर रक्कू ने बच्चे को थाम लिया और तभी उसके गीले कपड़े छूते ही प्रश्नभरी नज़र पोन्नू की तरफ डाली। "माँ इसे दिन भर से दस्त आ

रहे हैं।' हर बार धोती तो और कर देता है। मैंने दलिया खिलाया तो वो भी उलट दिया। 'रक्कू कुछ नहीं बोली पर बच्चे को लेकर पिछवाड़े के आँगन में आ गई। दीवार का सहारा लेकर वो थकी सी धम्म से ज़मीन पर बैठ गई। सिर पीछे टिकाकर उसने स्तन बच्चे के मुँह में दे दिया। कमर से साड़ी का पल्ला निकाला, उसकी गाँठखोली और दस पैसे का सिक्का निकाला। ये उसके पास आखिरी सिक्का था। बड़ी सावधानी से उसने वो सिक्का पोन्नू की हथेली में रखकर मुट्ठी बांध दी और समझाया "स्कूल के पास वाली दुकान पर जा बेटी और पाँच पैसे की दस्त की दवाई की पुड़िया माँगना। ध्यान से देखना कि वो पूरा चम्मच भर दवाई की पुड़िया बांधे फिर उसके बाद पिछवाड़े फूलवाले से पाँच पैसे के पूजा के फूल खरीदना, समझी" और उसने बच्ची को थपथपा दिया।

शाम गहरा आई थी और बच्चे का चेहरा देखना मुश्किल था पर उतना ढीला पड़ा शरीर महसूस कर पा रही थी। दस्त ज़रूर ही तेज़ होगें, उसने सोचा। उसका सिर फिर दीवार की तरफ ढलक गया। छोटे बच्चे के दस्तों से वो कितना घबराती है। सारी मांए ही घबराती हैं। मुथुम्मल के छोटे बच्चे की मृत्यु का ध्यान आते ही वो काँप उठी। नहीं-नहीं उसने अपने आप को समझाया मेरे बच्चे के साथ वो नहीं होगा।

दूध पीते अपने लाड़ले की ओर उसने ताका और हौले-हौले बच्चे के माथे, चेहरे और बदन को सहलाती रही। बच्चे के पैर और उंगलियाँ मसलते हुये उसका मन अपराध भाव से भर उठा। बच्चे को मैंने अपना पूरा दूध पिलाया ही कहाँ है कि उसमें कुछ ताक़त आती, पर तभी बच्चे को ताक़ती-ताक़ती उसकी अपराध भावना गुस्से में बदलने लगी। गुस्सा, बच्चे पर नहीं, अपने पर भी नहीं बल्कि बच्चे की ज़िन्दगी की अनिश्चितता पर और उसके लिए कुछ न कर पाने की अपनी बेबसी पर था।

उसके ख्यालों की कड़ी वहीं टूट गई जैसे ही उसने कन्नन के भीतर घुसने की आवाज़ सुनी उसने कन्नन को आवाज़ देकर कहा कि वो जल्दी से कुँए से पानी भर लाये। लड़का भुनभुनाया पानी भरना तो लड़कियों का काम है। अगर दोस्तों ने देख लिया तो खूब चिढ़ायेंगे और फिर आज तो सूखी लकड़ियों का इतना बड़ा गट्ठर लाया हूँ। "कन्नन बेटा, बच्चे को दस्त लगे हुए हैं धोने के लिये पानी चाहिए फिर मुझे तो अभी इतना काम बाकी है जा अच्छे बेटे, जा।" पोन्नू दो पुड़ियों में बंधी दवाई और फूल ले आई और माँ को थमा दिये। फिर माँ के कहे अनुसार बच्चों का टोंटीदार प्याला पानी से धोकर ले आई। रक्कू ने प्याला बेटी के हाथ से लिया, धीरे से अपने स्तन दबाकर उसमें से दूध

निकाला फिर पोन्नू की लाई हुई दवाई दूध में धोलकर प्याले की टोंटी बच्चे के मुँह से लगा दी। हर बार बच्चे ने एक घूँट भरा तो रक्कू ने उसका गला और छाती सहलाई। जब प्याला खाली हो गया तो उसने उनींदा बच्चा पोन्नू की गोद में दे दिया और हाथ में फूल लेकर गाँव के किनारे वाले मन्दिर की ओर चल पड़ी। सदियों से सिन्दूर से लिपटी पत्थर की अनगढ़ मूर्ति पर रक्कू ने गेंदें के तीन फूल चढ़ा दिये फिर मरियम्मा के जितने नाम याद कर सकी उन्हें पुकारने लगी। शायद मरियम्मा सुन ले। फिर पलटी और जल्दी-जल्दी घर की ओर चलने लगी।

घर पहुँची तो देखा पोन्नू आँगन के कोने में पत्थर पर बैठी बच्चे को अपनी टांगों पर लिटाये धो रही थी। उसने कई बार माँ को ऐसे ही बच्चे को धुलाते देखा था। उसे लगा वो भी कर सकती है। कन्नन ने आग जलाकर दलिये के लिये पानी उबालने चढ़ा दिया था। फिर उस रात उन सभी ने बड़ी चुप्पी में खाना खाया जब कर्रूपय्या घर लौटा तो उसने पाया कि पत्नी बच्चे की चिन्ता में डूबी हुई थी।

सारी रात दस्त चलते रहे। दवाई का असर होता नज़र ही नहीं आ रहा था। सारी रात रक्कू उसकी टांगें धोती रही या फिर थोड़ा-थोड़ा दूध पिलाती रही। सुबह होते-होते, वह समझ गई थी कि बच्चे को इलाज के लिये ले जाना पड़ेगा। पन्द्रह किलोमीटर दूर छोटे से कस्बे में एक डाक्टर है। एक बार जब कन्नन बहुत बीमार हुआ था तो इसी डाक्टर की सुई से ठीक हो गया था पर वो पैसे बहुत लेता है। तीन रुपये - इस बार भी उन्हें रुपये उधार लेने पड़ेंगे। उधार उसका पति इसके लिये कभी नहीं मानेगा। इस समय किसके पास देने के लिये इतने रुपये फालतू पड़े होंगे। ज़्यादातर परिवार उनकी तरह ही जब तक नई फ़सल का अनाज मिले तब तक पेट भरने के लिए, किसी न किसी से पहले ही उधार ले चुके हैं। इस समय तो भूमिपति या महाजन के अलावा और कोई उन्हें उधार नहीं दे सकता पर वो लोग सूद भी तो इतना माँगते हैं हर एक रुपये पर एक महीने में चार आने तक सूद ले लेते हैं। इसके अलावा वो खेत का काम छोड़कर कैसे जा सकती हैं। अगर गई तो भूमिपति उसकी पिछली मेहनत का अनाज भी पूरा नहीं देगा।

जब कर्रुपय्या सो कर उठा तो वो समझ गई कि उसका पति उसके मन की बात समझ रहा है पर फिर भी पूछने में डर रही थी। उसने सोचा बच्चे को कम से कम गाँव की दाई को ही दिखा दूँ। मीना ये तो बता सकेगी कि बच्चा कितना बीमार है और कई बार तो उसकी जड़ी बूटियाँ भी बच्चों के दस्तों में बड़ा फ़ायदा

करती हैं। सो जब उसके पति ने खाना खा लिया तो रक्कू बच्चे को गोद में लेकर दाई के घर के लिये चल पड़ी पर घर पर सिवाये मीना की सास के और कोई नहीं था। बग़ैर बोले ही उस कमर झुकी बुढ़िया ने इशारा किया कि मीना तो काम पर जा चुकी है।

रक्कू अभी भी चाहती थी कि दाई एक बार उसके बेटे को देख ले सो घर लौट कर उसने पोन्नू को समझाया कि बच्चे को दाई के पास ले जाकर दिखा दे, उसे काम के लिये पहले ही देर हो चुकी है। जल्दी-जल्दी हंडिया में बचे दलिये के कुछ निवाले रक्कू ने गले से नीचे उतारे और घर से निकल पड़ी। बीच-बीच में मुड़कर अपने नन्हे से रोते हुए बच्चे को भी देख लेती थी। उसकी पीठ से पसीने की धारें बहकर टांगों तक छितर रही थी और साड़ी बदन से चिपक गई थी। सारे दिन वो काम में ठीक से चित्त लगा ही न पाई। उसका मन तो खेतों से दूर उसके बीमार बच्चे में समाया हुआ था। उसकी सहेलियाँ कारण जाने बग़ैर उसे चिढ़ा रही थीं। भूमिपतियों के आदमी ने भी उसे डाँटा जो सारा दिन खेत में खड़े होकर औरतों की झुकी पीठ और चलते हाथों पर नज़र रखता था। उस दिन धान का आखिरी गट्ठर डालकर रक्कू औरों के लिए रूकी नहीं। घर पहुँची तो देखा बच्चा और निढाल और चिड़चिड़ा हो गया था और उसने जल्दी-जल्दी दूध के लिए मुँह चलाना शुरू कर दिया। पेट भर जाने पर वो थका सा रक्कू की गोद में पड़ा रहा और जल्दी ही आधे से ज़्यादा दूध उसने उलट दिया। माँ ने पोन्नू को एक और कपड़ा लाने के लिए पुकारा और फिर सुनने लगी कि सुबह दाई मीना ने बच्चे के बारे में क्या बताया "उसने रात के खाने से पहले तुम्हें वहाँ बुलाया है वो बच्चे के लिए कुछ जड़ी-बूटी देगी। अम्माँ उसने कहा था ज़रूर आना" सूरज पश्चिम में छिपा ही था, जब रक्कू दाई के घर पहुँची। अपने आप दाई के हाथ बच्चे के सिर की ओर चले गये। उसने हल्के हाथों से बच्चे के सिर के बीच, कच्चा तालू टटोला। "खुश्की शुरू हो चुकी है रक्कू", दाई ने दृष्टि ऊपर उठाई, "पेचिश बड़ी ज़बरदस्त है। चल, पोटुथवाई की पत्तियाँ ले आ मैं दवाई बना देती हूँ।" और उसने रक्कू को बताया कि कहाँ वो ख़ास पत्तियाँ उग रहीं हैं। मीना बरसों से गाँव की दाई है। वो गाँव की और नीची जात की औरतों की तरह ही अनपढ़ है पर उसने अपना ये हुनर अपनी सास से सीखा है जो खुद पहले गाँव की दाई थी। अब तो ये खुद भी दादी बन चुकी है। पैंतालीस वर्ष के आस पास उम्र होगी। वैसे आम गाँव वालों की तरह अपनी सही उम्र इसे भी नहीं मालूम होगी। इसकी ससुराल ग़रीब है, परन्तु इतने वर्षों से बीमार औरतों और बच्चों की देखभाल के अनुभव

के कारण सभी औरतें यहाँ तक कि उच्च जाति की औरतें भी उसकी राय की कद्र करती हैं। ये खुद भी अछूत परिवारों को भी उतने ही स्नेह से देखती है जितना ऊँची जाति वालों को। मीना बड़ी हिम्मत वाली औरत है चाहे उसका चेहरा पतला और बरसों की खेत मज़दूरी के कारण झुर्रियों से भरा हुआ है।

रक्कू कुछ ही क्षणों में पत्तियाँ लेकर लौट आई। दाई ने ताक पर से एक छोटा टुकड़ा हल्दी की जड़ और कुछ अन्य पत्तियाँ उठाई और पत्थर की सिल के सामने उकड़ू बैठकर उन्हें पीसने लगी। पत्थर रगड़ने के साथ वो हथेली के किनारे से पूरी दवाई को समेटकर बीच में करती आई और फिर पीसने लगी जब पिसकर महीन हो गई तो उसने हथेली मोड़कर पूरी दवाई उठा ली। रक्कू ने अपने पल्ले का कोना खोलकर आगे बढ़ा दिया और दवाई के साथ गाँठ बांध ली। दाई ने समझाया "ये दवा रात को देना और फिर सुबह भी" फिर कहने लगी "कहते तो हैं कि दस्तों वाले बच्चे को भूखा रखना चाहिये पर रक्कू मैंने अपने बच्चों को दूध पिलाना कभी बन्द नहीं किया। वैसे मैंने तुम्हें यह दवा दे दी है पर रक्कू अगर मैं तेरी जगह होती तो इसे कस्बे के डाक्टर को ज़रूर दिखा देती। अगर अभी भी जल्दी करे तो पलयानूर से बस पकड़ने का समय है उसे सभी घरों का हाल मालूम था तो पूछने लगी' "पर क्या तुम्हारा घरवाला जाने देगा"।

एक अटपटे सन्नाटे के बीच रक्कू ने बच्चे को उठाया। दाई भी समझती है। सभी भूमिहीन परिवारों की हालत एक सी ही है। हाथ में कुछ रुपये होना, बालू में पानी रोक रखने जैसा ही मुश्किल है। कुछ रुककर मीना बोली "देखती हूँ" उसने साड़ी के पल्ले में बँधी गांठ खोली और मैला मुड़ा मुड़ाया एक रुपये का नोट निकाला। रक्कू के हाथ में रुपया रखते हुए उसने कहा पिछली रात पास के गाँव में जापा था बेटा हुआ पहलौठी का सो उन्होंने मुझे एक रुपया दिया। जब रोज़ की मज़दूरी कमाने लगोगी तो वापिस दे देना 'रक्कू ने सिर हिला दिया और बाहर निकल आई। मन ही मन सोचने लगी जब फ़सल का अपना हिस्सा मिलेगा तो एक भाग मीना को दे जाऊँगी।

रक्कू ने जब दाई की सलाह अपने घरवाले को बताई तो उसने कुछ न कहा। रक्कू को मालूम था वो मन ही मन सोच रहा है कि रात के समय पत्नी को अकेले कैसे जाने दूँ और फिर सुई लगवाने और बस के किराये के लिए चार पाँच रुपये किससे लूँ। उसकी चुप्पी रक्कू को सालने लगी। आखिर चुप्पी का वो क्या जवाब दे सकती है। रक्कू भी चुपचाप खड़ी रही। मिट्टी के तेल की बत्ती रक्कू और गोद के बच्चे पर परछाइयाँ फेंक रही थी। अन्त में रक्कू पिछवाड़े

के आंगन में आ गई। उसने खटपट से जाना कि करूपय्या घर से बाहर निकल गया है और थोड़ी ही देर बाद जब वापिस लौटा तो उसने रक्कू को बुलाकर कहा "चल, अगर पलयानूर से हमें बस पकड़नी है तो अब भागना पड़ेगा" रक्कू ने दौड़कर फूस की दीवार पर सूखते अधगीले कपड़े झपटे और कन्नन और पोन्नू को पुकार कर कहा "लौटते हुये तुम्हारे लिये इडली लाऊंगी।" वे दोनों निकल पड़े। अपने घरवाले के साथ कदम मिलाने के लिए रक्कू को दौड़ना पड़ रहा था। पलयानूर गाँव वैसे तो गाँव से एक किलोमीटर दूर ही था पर रास्ता संकरा और बैलगाड़ियों के आने जाने से बने गड्ढों से भरा था। संध्या की आखिरी रोशनी भी डूब चुकी थी। रक्कू ने अगर किसी कारण भी एक क्षण को ऊपर देखा तो ज़रूर ठोकर खा कर गिर पड़ेगी। गोद में बच्चा अब इतना निढाल हो गया था कि रक्कू ने दोनों हाथों से उसे कस कर पकड़ा हुआ था।

जैसे ही डाक्टर ने दस्तों का शब्द सुना अपने पीछे रखी मेज से सुई और नलकी उठा ली पास ही तेल के स्टोव पर एक बर्तन में पानी उबल रहा था। सुई लगाने के बाद रक्कू अपने आप बच्चे का नरम शरीर सहलाने लगी। करूपय्या ने डाक्टर को तीन रुपये थमाये एक रुपये का नोट और कुछ रेज़गारी। वे आसपास के लोगों के लिये डाक्टर ही था चाहे उसने कोई ट्रेनिंग नहीं ली थी। केवल बारह सालों तक अपने एक चाचा को देख देख कर कुछ सीख गया था। गाँव वाले उसी के पास आना पसन्द करते थे, चाहे वो खूब पैसे भी लेता परन्तु एक तो हमेशा वह सुई देने को तैयार रहता था, दूसरी ये भी कि वो गाँव वालों से बुरी तरह पेश नहीं आता था या उन्हें नीचा नहीं दिखाता था। ये सच है कि कुछ दुकानें छोड़कर ही सरकारी दवाखाना भी था पर शाम को देर से जब गाँव वाले पहुँचते थे तो वह बंद हो चुका होता था। ज़्यादातर तो वहाँ दवाइयाँ ही नहीं होती थी या फिर हर रोग के लिये बस वही पीली गोलियाँ ही दे देते थे। वैसे तो उन्होंने सुन रखा था कि यहाँ इलाज मुफ्त है पर आमतौर पर डाक्टर को दिखाने के लिये भी कंम्पाउडर की हथेली गर्म करनी पड़ती थी। फिर डाक्टर भी जवान था जो कई और गाँव वालों को झिड़क देता था।

रक्कू को डाक्टर ने कई खाने की चीज़ें बताई जो बच्चे को नहीं देनी थी। "और माँ का दूध" रक्कू ने पूछा। उसने भंवे ऊँची कर के कहा "कई तो कहते हैं कि माँ का दूध भी नहीं देना चाहिये।" छोटे से दवाखाने में दोनों तरफ बैठे मरीज़ों की कतार के बीच में ये लोग सिकुड़ते हुये बाहर निकले। बाकी बची रेज़गारी में से करूपय्या ने बस अड्डे पर बने एक ढाबे से इडली के दो पूड़े खरीदे। पलयानूर के लिये आखिरी बस की इन्तज़ार करते हुए करूपय्या ने एक

पूड़ा खोल कर इडली खा ली। रक्कू के पेट में भी भूख से मरोड़ उठ रहा था पर उसने नहीं खाया। जब उसके दोनों बच्चे खा लेंगे तभी दूसरे पूड़े से बचा हुआ कुछ वे भी खा लेगी।

पलयानूर गाँव से अपने घर की ओर पैदल रवाना होते समय आसमान में मृगतारक ठीक सिर के ऊपर आ चुके थे। बच्चा उसकी गोदी में खूब गहरी नींद में सोया हुआ था और दस्त सच में बंद हो गये थे। सुई वाले डाक्टर ने दर्द दूर करने की और नींद की दवाई का घोल दिया था।

और सभी के लिये आमतौर पर वो ये ही दवा इस्तेमाल करता था इससे बुखार बेचैनी दूर हो जाती थी और कई बार बच्चों को पेट की गड़बड़ में भी थोड़ी देर को राहत मिल जाती थी। हालत में एकाएक सुधार देखकर गाँव की औरतें बड़ी प्रभावित हो जाती थीं। ज़्यादातर बच्चों की आम बीमारियों के लिए ये ही दवा गोली की शक्ल में बहुत कम पैसे में मिल सकती है। जब तक ये लोग पुलियंगुलम पहुँचे, गाँव की गलियों में अंधेरा और सन्नाटा छा चुका था। जिस चुप्पी के साथ पूरा रास्ता काटा था उसी तरह ये लोग झोंपड़ी में दाखिल हुये। रक्कू ने कन्नन और पोन्नू को जगाकर इडली का पूड़ा थमाया। दवाई की गहरी नींद से बच्चा जागा तब तक पौ फूटने लगी थी। सुई वाले डाक्टर के कहने के बावजूद रक्कू ने भूखे बच्चे को अपना दूध पिलाया। उसे मीना की बात याद आ गई और फिर उसे मीना के कहे पर ज़्यादा विश्वास भी है। रक्कू के काम पर जाने के काफ़ी देर बाद परन्तु दोपहर से पहले ही दवा का असर पूरी तरह से उतर चुका था और दस्त फिर से शुरू हो गये थे। उस शाम पोन्नू ने बच्चा माँ को थमाया तो वो और अधिक ढीला लग रहा था। दाई के पास जाकर तो शक पक्का ही हो गया, खुश्की पहले से भी बढ़ गई थी। मीना को आज बच्चे की जान का भी खतरा लग रहा था। बड़े बेमन से उसने रक्कू को बताया कि उसे मालूम है शहर के अस्पताल में दस्त वाले बच्चे ग्लूकोज़ के पानी की सुई से ठीक हो जाते हैं।

रक्कू शहर के नाम से दुख भरी फीकी सी हँसी हँस दी। "मीना ऐसी बातों से मेरा जी न जला, शहर चालीस किलोमीटर दूर है, इतने लम्बे सफ़र का किराया कहाँ से लायेंगे हम लोग और फिर आने जाने में एक दिन खराब करने के लिए किसके पास है तेरी बात सुनकर मेरा मन दुखता है।" मीना समझती है सो उसने और कुछ नहीं कहा फिर भी ये बात तो साफ़ थी कि अब बच्चे के बचने की आखिरी आशा शहर के अस्पताल में ही है, ये वो समझ गई थी। उसे यह भी मालूम था कि रक्कू की कड़वी ज़बान का गुस्सा उस पर नहीं था

बल्कि खुद अपने हालात और अपनी बेबसी पर था। अपने जीवन में शायद ही रक्कू कभी खुलकर रोई हो। गाँव के जीवन में इस तरह की भावुकता के लिए जगह नहीं है। इसीलिए औरतें अपना दुःख और मजबूरी छिपाने की मजबूती पैदा कर लेती हैं पर आज घर वापिस लौटते हुए रक्कू की आँखों से आँसू बह चले। उसके दिमाग में अपने तीसरे बच्चे को बचाने की कोशिशें दोबारा जी उठीं और जन्म के एक सप्ताह बाद ही उसके मर जाने का दर्द फिर से जाग उठा। और अब इस बच्चे के लिये दुःख उतना ही तीखा था शायद कुछ ज़्यादा ही गहरा।

घर पहुँचकर उसने पति से कुछ नहीं कहा। रात का खाना खत्म हो जाने पर ही वो पति से मीना की बताई बात कह पाने का साहस जुटा पाई। इस बार पति चुप न रहा। रक्कू दीवार का सहारा लिये चुपचाप सुनती रही। ये सही है कि जो कुछ पति कह रहा है उसे वह समझती है। इस समय वो अपना महाजन का उधार और अधिक चढ़ाये बगैर कैसे रुपया पा सकते हैं इस समय वो अपने हिस्से का अनाज छोड़ कैसे काम से ग़ैर-हाज़िर हो सकते है। और आखिरी बात, कि अकेली औरत शहर कैसे जा सकती है पत्नी की ओर पीठ मोड़ते हुये कर्रुपय्या ने हाथ जोड़ा "क्या भगवान ने हमारा दूसरा बेटा नहीं ले लिया था इसका जीवन भी भगवान की मरज़ी पर छोड़ दे।" ऐसा लगा कि जो कुछ उसने कहा वो इसीलिये नहीं कि वो ऐसा विश्वास करता है बल्कि ये ढेर बग़ैर जबावों के सवालों को पीड़ा से बचने की निराशाजनक कोशिश थी। अचरज तो ये था कि रक्कू इस निराशा को समझ नहीं पा रही थी इस बच्चे की जान के लिये लड़ने की इच्छा से वो तड़प रही थी। कोई ऐसा कारण था जो उसे इस बच्चे की मौत स्वीकार नहीं करने दे रहा था। शायद उसके पिछले बच्चे की मौत का दर्द अभी भी तीखा था पर क्या ऐसा नहीं कहते कि एक बच्चे की मौत, माँ को दूसरे के वक्त मज़बूत बना देती है।

शायद ये मीना की सलाह के कारण है। जब से वो दुल्हन बनकर इस गाँव में आई थी वो मीना को जानती थी और उसकी बात पर विश्वास करती थी अगर उसने कहा है तो बच्चे को बचाने का रास्ता ज़रूर होगा पर उसके भीतर ही भीतर तेज़ गुस्से की लहर भी उठ रही थी। गुस्सा किसलिये। शायद वो खुद भी ठीक से न बता पाती पर वो अच्छी तरह जानती है कि गाँव में ऐसी भी माएं है जो जब ज़रूरत हो तो अपने बच्चे का महंगे से महंगा इलाज करवा सकती हैं।

अपने पति के सामने खड़े होकर एकाएक रक्कू में ये कहने का साहस आ

गया "नहीं, मुझे कोशिश कर लेने दो, मुझे एक बार शहर जाकर देख लेने दो। भूमिपति मेरे हिस्से का अनाज बेईमानी करके काट लेगा फिर भी जो कुछ बचेगा उससे उधार के रुपये चुका दूंगी और कुछ नहीं तो अपनी पीतल की गागर बेच दूंगी ताकि हम भूखे न मरें।"

उसने पहले कभी अपने पति से इस तरह बात नहीं की थी। वो जितनी डरी हुई थी उतनी ही आश्चर्य चकित भी। जबकि कर्रूपय्या बहस करता रहा पर खुद अपने इस बच्चे के प्यार के कारण और रक्कू की ममता देखकर वो ढुलमुल हो चुका था उन दोनों को मालूम था कि परिवार को भूख से बचाना किसी रस्सी पर चलने के समान कठिन था और इसके कारण किसी एक सदस्य पर अलग से ख़र्चा करना कितना मुश्किल था। ग़रीबी और भुखमरी के बीच की सीमा इतनी पतली है कि किसी एक बच्चे पर कुछ ज़्यादा ध्यान देते ही पूरा संतुलन गड़बड़ा जाने की आंशका होती है, साथ ही यह भी सच है कि हर बच्चे की ज़िन्दगी का मतलब परिवार की सुरक्षा है ख़ासतौर पर लड़के का मरना परिवार के लिये बहुत बड़ा नुकसान है सो प्यार और ज़रूरत दोनों के कारण कर्रूपय्या इस बात के लिये राज़ी हो गया कि रक्कू बच्चे को शहर ले जाये।

अगली सुबह रक्कू पल्ले में उधार के पाँच रुपये बाँधें हुए पलयानूर से बस में चढ़ी। रुपये गाँव के महाजन से उधार लिये थे। जिसे अपने हिस्से के धान में से चुकाना होगा साथ ही क़रीब तिहाई हिस्सा सूद में भी देना पड़ेगा वो एक बार पहले भी शहर गई थी जब छोटी सी लड़की थी, गर्मियों के चित्राई त्यौहार की धूमधाम मनाने। उस वक्त जब बैलगाड़ी में बैठकर जा रही थी तो पूरे परिवार वालों से घिरी हुई थी शायद दस पन्द्रह साल हो गये होंगे उसने सोचा।

सड़क खूब गढ़ों वाली और सर्दियों की बारिश से बने पोखरों की मेड़ों के साथ साथ थी। किसी समय उस पर हल्का सा तारकोल पड़ा था। पर अब जो कुछ बचा भी था तो वह बस के पहियों के लिए रुकावट ही बन रहा था। कभी सूखी उजाड़ ज़मीन दिखती थी जहाँ न कोई झाड़ी और न पेड़ तो कभी-कभी छोटा सा टुकड़ा धान के हरे भरे खेतों का आ जाता था। बाहरी दृश्य हर पल बदल रहा था। धान के उन्हीं खेतों पर काम करने जा रही औरतों की एक भीड़ को देखकर बस के ड्राइवर ने जोर से हार्न बजाया। कुछ औरतें सड़क के दोनों ओर कतारों में दौड़ रही थीं और कुछ गर्भवती बड़े पेट के कारण धीरे अटपटी चाल से जा रही थी। कुछ ने अपने दिन के खाने की हंडिया सिर पर रखी हुई थीं।

खिड़की के बाहर से गुज़रने वाले दृश्यों की ओर रक्कू कम ही ध्यान दे रही थी। उसकी अनदेखी नज़र तो गोद में बच्चे के ऊपर जमी थी। उसने बच्चे के

ऊपर साड़ी का पल्ला ढककर उसे दूध पिलाना शुरू किया पर बच्चे में कुछ क्षण तक ही दूध पी सकने की ताक़त थीं उसका शरीर अब और ज़्यादा खुश्क और बेजान था।

अन्त में बस उस छोटे कस्बे में पहुँची जहां वे लोग दो रात पहले आये थे। यहाँ से रक्कू को दूसरी बस पकड़नी थी जो बड़ी सड़क पर बीस किलोमीटर दूर शहर की ओर जाती थी। उसने झिझकते हुए एक औरत से पूछा कि शहर के लिये बस कहाँ से मिलेगी। उस औरत के पति ने सड़क के किनारे बनी हुई चाय की दुकानों की तरफ इशारा कर दिया। रक्कू बताई हुई दिशा की ओर चल पड़ी और धूप में खड़ी इन्तज़ार करने लगी। एकाएक रक्कू ने शहर से अभी आई बस में से सफ़ेद साड़ी पहनकर उतरने वाली एक औरत को पहचान लिया औरत के बाल बड़ी सफ़ाई से एक जूड़े में बंधे थे, साड़ी कलफ़, इस्त्री वाली और बड़े करीने से बंधी हुई थी। ये सरकारी वर्दी थी जिससे पता लग रहा था कि औरत ग्रामीण हैल्थ सैंटर की कर्मचारी है। वह सहायक नर्स और दाई थी।

क़रीब एक साल पहले रक्कू ने इस औरत को अपने ही गाँव में देखा था। अब जो बच्चा गोदी में है उस समय सात आठ महीने का पेट में था। संयोग से उस दिन रक्कू घर में ही थी। हुआ ये था कि उस दिन रक्कू जैसे ही लकड़ी काटने जंगल पहुंची उसे कुछ खून जाने लगा इसीलिये वो जल्दी ही घर लौट आई थी। जैसे ही वो अपने घर के दरवाज़े तक पहुँची उसने सुना पीछे से उसे कोई पुकार रहा है मुड़कर देखा तो यही औरत सफ़ेद साड़ी पहने हुये उसी ओर आ रही थी। कोसती कि यहाँ आने में जल्दबाज़ी क्यों की तो कभी सोचती कि शायद इस बड़े शहर के डाक्टर के इलाज से उसका बच्चा बच जाये शहर के क़रीब पहुँचने तक बस इतनी खचाखच भरी हुई थी कि वो बाहर कुछ देख नहीं पा रही थी। सवारी गाड़ियों का शोर और बस की धीमी रफ्तार से रक्कू को अन्दाज़ हुआ कि वे लोग शहर में घुस रहे हैं। ट्रकों और बसों के तीखे हार्न और सिनेमाघर में लाउडस्पीकर पर बजते गानों का शोर बेइन्तिहा था जिससे रक्कू और घबरा गई। जब बस रुक जायेगी तो उसे अकेले इस भीड़ और शोर में उतरना पड़ेगा ये सोचकर ही रक्कू की जान सूख रही थी। अन्त में जब शहर के बीचों-बीच बने बस अड्डे पर जाकर बस रुकी तो रक्कू बैठी रही, जब तक कि पूरी भीड़ न उतर गई। बाहर उसने देखा कितनी ही बसें आ जा रहीं है। बस में टिकट और सीट के लिये लोगों की भीड़ जमा हैं। रक्कू कुछ गाँव के कपड़ें पहने हुई औरतों के पीछे-पीछे चलने लगी जिन्हें अड्डे से बाहर निकलने का रास्ता मालूम था। पर गोदी में बच्चा लिये होने के कारण उनकी चाल की

बराबरी न कर पाई। लोगों की धकियाती भीड़ में से निकलने में परेशान होकर रक्कू एक फूल बेचने वाली दुकान के पास रुककर खड़ी हो गई। चमेली के फूलों से लदी एक बैंच के पीछे एक छोटी सी लड़की बैठी सफ़ेद फूलों की माला गूंथ रही थी। रक्कू कुछ क्षण उसे देखती रही। झिझकते हुए उसने बच्ची से पूछा, "सरकारी अस्पताल जाने का रास्ता कौन सा है।" लड़की ने बग़ैर हाथ रोके, आँखे ऊपर उठाई। उसने बस अड्डे के सामने के चौराहे की ओर सिर हिलाया और बोली "अस्पताल शहर पार करके कई किलोमीटर दूर है।" उसने रक्कू से कहा सड़क पार से तीन नम्बर की बस ले लेना।

रक्कू ने हामी भरी, मुड़ी और सड़क की ओर चलने लगी। वहाँ बसों, ट्रकों और कारों का तांता बंधा हुआ था और एक सिपाही बीच में खड़ा इस भीड़ को निर्देश दे रहा था। लोगों की भीड़ भी इतनी ज़्यादा थी कि थोड़ी-2 देर में वे लोग गाड़ियों को रुकने पर मजबूर कर देते थे कि पैदल चलने वाले लोग सड़क पार कर सकें। सड़क के दूसरी ओर बहुत सी बसें दिखाई दे रही थीं। वो धीरे-धीरे खिसकती हुई वहाँ तक पहुँची और एक तीन नम्बर की बस पहचान गई पर वो तो पहले ही भर चुकी थी ओर उसे अगली बस के लिये रुकना पड़ा। जब अगली बस आई तो रक्कू भी कुछ औरतों की भीड़ के पीछे-पीछे भीतर घुस गई वैसे इस बार उसे बैठने को जगह नहीं मिली। रक्कू ने पास बैठी एक औरत से पूछा "ये बस अस्पताल जायेगी" औरत ने हाँ में सिर हिला दिया "और कितने पैसे का टिकट है" रक्कू ने फिर पूछा "तीस पैसे का अम्मा"। रक्कू ने अपने खाली हाथ से साड़ी के पल्ले से पैसे निकाले और कंडक्टर को पकड़ा दिये जो लोगों की भीड़ को धकेलता टिकट दे रहा था। उस औरत ने कहा "मैं तुम्हारा बच्चा पकड़ लूँ" पर रक्कू ने उसे समझाया "बच्चा बहुत बीमार है सो मैं ही पकड़े रहूँ तो ठीक है।" औरत ने समझते हुये सिर हिला दिया और बोली "जब अस्पताल आयेगा तो बता दूँगी। मुझे भी वहीं उतरना है।"

रक्कू ने सोचा अच्छा ही हुआ कि शहर की बस में बैठ गई क्योंकि अस्पताल सच में बड़ा दूर था। हर बार जब बस रुकती तो रक्कू गलियारे में और धकेल दी जाती थी क्योंकि हर जगह कुछ लोग चढ़ रहे थे। अन्त में बस आधा चक्कर घूमकर एक सलेटी पत्थर की बहुत बड़ी इमारत के सामने रुक गई। ज़्यादातर लोग यहीं उतर रहे थे। वो जल्दी ही समझ गई कि यही अस्पताल हैं। वो भी बहुत से लोगों की भीड़ के साथ उतर पड़ी और फलों से लेकर खाली बोतलें बेचने वाले ठेलों को पार करती हुई लोगों के पीछे-पीछे चलने लगी ज्यों ही वो अस्पताल के सामने पहुँची उसे आभास हुआ कि अन्दर जाने वाला लोहे का

बड़ा फाटक बंद हो चुका है और उसके आगे लोगों की एक छोटी सी भीड़ जमा है उस भीड़ में ज़्यादातर लोग उसकी तरह फटे चिथड़े में थे। वहाँ कुछ औरतें भी थीं। उससे रक्कू को जरा हिम्मत मिली और उसने पास खड़ी एक औरत से पूछा कि "दरवाज़ा बंद क्यों है" " तुम्हें मालूम नहीं हर रोज़ सुबह नौ बजे दरवाज़े बंद हो जाते हैं अगर इलाज कराना है तो सुबह सात आठ बजे तक आ जाना चाहिए।" और उसने रक्कू पर तरस खाते हुए ज़बान चटखाई "च्य, च्य तुम गाँव से हो ना।" "पर मैं अपने लिये नहीं आयी हूँ मेरा बच्चा बीमार है" रक्कू ने कहा। औरत के चेहरे पर फिर तरस खाती हुई मुस्कुराहट उभर आई "कोशिश कर देखो शायद तुम्हारी किस्मत अच्छी हो और तुम्हें अन्दर जाने दे। पर हाँ, जब तक उसके हाथ में एक रूपया नहीं रखोगी तब तक नहीं।" फाटक पर बैठे चौकीदार ने आखिर रक्कू को अन्दर जाने दिया पर एक रुपये का मूल्य चुका कर ही। एक रुपया, जो उसकी पूरे दिन की मज़दूरी के बराबर है यूँ चला गया। उसका मन अगर बच्चे की बीमारी से इतना परेशान न होता तो वो जरूर चौकीदार को खूब कोसती। वैसे भी चारों ओर के अजनबीपन से वो घबरायी और परेशान थी।

अस्पताल के सामने का मैदान लोगों से भरा हुआ था। कुछ बीमार रिश्तेदारों के लिये बाहर से खाने के डिब्बे ला रहे थे। कुछ सफ़ेद साड़ी वाली औरतें भी घूम रहीं थी रक्कू ने सोचा कि ज़रूर नर्सें होगी। सो वह दो नर्सों के पीछे-पीछे मुख्य द्वार से भीतर घुस गई और उनका ध्यान अपनी ओर खींचनें की कोशिश करने लगी। एक ने मुड़कर रक्कू पर उड़ती सी नज़र भी डाली पर अपनी मित्र के संग चलती गई। हक्की बक्की सी रक्कू एक जगह दीवार का सहारा लेकर ठहर गई। कुछ देर बाद हिम्मत करके उसने अपने आपको धकेला और सामने से आती हुई सफ़ेद साड़ी वाली एक और नर्स के सामने जा खड़ी हुई।

"सिस्टर मेरा बच्चा बीमार है मेहरबानी करके बताइये उसे कौन देखेगा" नर्स ने ताज्जुब में भरकर उसकी ओर देखा और कहने लगी — "आउट पेशेंटस क्लिनिक तो अब बंद हो चुका तुम पहले क्यों नहीं लाई? कल सुबह सात बजे तक ले आना," ये कह कर वो जाने को मुड़ी। रक्कू ने जल्दी से गिड़गिड़ाते हुए कहा "पर मेरा बच्चा बहुत बीमार है, कमज़ोर है" नर्स कुछ झुझंलाकर रुक गई "अच्छा-2 ठीक है वार्ड नम्बर एक सौ चौदह में चली जाओ। हॉल में सीधे जाकर बायें मुड़ना वहाँ शायद कोई तुम्हारे बच्चे को देख ले" और नर्स शीघ्रता से आगे बढ़ गई।

एक सौ चौदह — रक्कू ने याद रखने के लिये दोहराया। वो हॉल में सीधी

चलती गई फिर बायें मुड़ गई। कमरे के दोनों और मरीज़ ओर रिश्तेदार कतार में बैठे, लेटे थे। कुछ के पट्टियाँ बंधी थी। अधिकतर स्तब्ध और चुपचाप। उसने कुछ दरवाज़ों के ऊपर नम्बर लिखे देखे पर वो पढ़ नहीं पाई और किसी से पूछने में शर्म आ रही थी पर पूछना ही पड़ा। कुछ लोगों ने सोचा कि उन्हें सही जगह मालूम है और उसे कमरों-कमरों घुमाते रहे। आखिर में किसी तरह वो बच्चों के वार्ड तक पहुँच गई। भीतर जाकर उसे कुछ हिम्मत आई और वो एक नर्स के पास पहुँची। उसने हॉल के आखिर में एक दरवाज़े की ओर इशारा करते हुए वहाँ बैठकर इन्तज़ार करने को कहा "जल्दी ही डाक्टर आयेंगे।"

वार्ड लोगों से भरा हुआ था माएं बच्चों को अपनी बाहों में लिये थीं या कंधे पर लिटाए थीं। कुछ औरतें कमरे की दीवार का सहारा लिये नीचे बैठी अपने कमज़ोर बच्चों को बोतलों से पनीला दूध पिला रही थी। कुछ खड़ी हुई थीं कोशिश कर तेज़ी से इधर उधर जाती हुई नर्सों के रास्ते में न आयें। उसने तीन बड़े कमरों को पार किया जहाँ दोनों ओर कतार में लोहे के पालने और उनके बीच ज़मीन पर चटाइयाँ बिछी थीं। हर पालने पर एक बच्चा और उसके साथ उसकी माँ या दादी नानी थी। पलंगों के बीच मुश्किल से चलने भर को जगह थी। क़रीब-क़रीब सभी बच्चे चुपचाप निश्चल पड़े थे। ज़्यादातर काफ़ी ज़्यादा बीमार लग रहे थे। तीसरे कमरे में सिर्फ़ मेजें थीं जिन पर कत्थई रंग के रबर के टुकड़े बिछे थे। इन मेजों पर बच्चे लेटे हुए थे। हर एक की बाँह या टाँग पर पट्टी बंधी थी और उससे जुड़ी नली एक डंडे से लटकी पानी की बोतल के साथ लगी थी। उसे मलमूत्र की बदबू आई पर उससे भी तेज़ तीखी गन्ध थी जो गाँव के कुँए में से आती थी जब सरकारी लोग उसमें सफ़ेद दवाई डालकर जाते थे।

एक नर्स उसके बिल्कुल पास से गुज़री फिर मुड़कर रास्ता रोक कर खड़े होने के लिये उसे डाँटने लगी। रक्कू आगे बढ़ी और उस कमरे के ज़रा भीतर जाकर खड़ी हो गई जहाँ जाने के लिए पहली वाली नर्स ने कहा था। थोड़ी देर में उस घुटे हुए बंद कमरे में एक और औरत कुछ बड़े बच्चे को लेकर आ खड़ी हुई। दोनों चुपचाप खड़ी इन्तज़ार करती रहीं। बाहर हॉल में कभी-कभी कुछ औरतों और मर्दों के झुण्ड निकल रहे थे। उन्होंने सफ़ेद कोट पहने हुये थे और गले में या जेब में आला लटकाए हुये थे। उनमें से कुछ औरतें जो बड़ी कम उम्र की मालूम हो रही थी खूब नरम मोटे रेशम की या नॉयलान की साड़ियाँ पहने थीं। उनके सुन्दर चमकदार बाल चोटी में बंधे पीठ पर लटक रहे थे। यदि किसी बड़े डाक्टर के साथ खड़ी होती थीं तो पास से गुज़रते हुए

खूब बातें करती और हँसती दिखाई पड़ रही थीं।

शायद सिर्फ़ आधा घंटा ही बीता था पर रक्कू को वो बहुत लम्बा और कष्टदायक लगा। तभी सफ़ेद कोट पहने हुए एक युवक भीतर आया। वह कोने की छोटी मेज के पास बैठा और हाथ के इशारे से उसने रक्कू को अपने पास बुलाया। उसने झुककर अपनी बांहों में बेहोश पड़े बच्चे को दिखाया। बगैर बोले उसने बच्चे के होंठ देखे और पेट की चमड़ी को कई बार चुटकी में भरकर देखा। बच्चा कुनमुनाया। डाक्टर ने जल्दी से बच्चे की छाती पर और पेट पर आला लगा कर सुना। बिना रक्कू की ओर देखे उसने पूछा "बच्चे को कब से दस्त हैं और दस्त में खून या बड़े कीड़े निकले" जब रक्कू ने उसके प्रश्न का उत्तर दिया तो झुंझलाकर ऊपर देखते हुए बोला "बच्चे का इलाज करवाने के लिये तुमने तीन दिन तक इन्तज़ार किया ज़रा खुश्की की हालत देखो।" उसने बच्चे की चमड़ी फिर एक बार चुटकी में भर कर रक्कू को दिखाई।

रक्कू ने कोई जवाब नहीं दिया क्योंकि इसका जवाब केवल ग़रीबी है और ये वो कैसे डाक्टर को समझा पाती कैसे उसे बताती कि एक दिन के लिए भी खेत के काम से ग़ैरहाज़िर होने का उसके परिवार के लिए क्या मतलब है, कैसे उसे समझाती कि सफ़र के लिए उधार लिया गया पैसा धान के अपने हिस्से में से देना पड़ेगा जो वैसे ही परिवार के लिए ना क़ाफी है। सबसे बड़ी बात कैसे समझाती कि उसके परिवार के लिए ये बच्चा कितना कीमती है। डाक्टर की अनकही समझ से उसे बड़ी चोट पहुँची कि उसे उसके बच्चे की कोई परवाह नहीं है पर उसने कुछ नहीं कहा और सिर झुकाए खड़ी रही।

युवा डाक्टर उठ खड़ा हुआ और रक्कू को अपने पीछे आने का इशारा किया। उसे वो तीसरे कमरे में ले गया और फिर न जाने कहाँ गुम हो गया। क़रीब दस मिनट बाद लौटा तो साथ एक नर्स थी। जैसा उन्होंने कहा, रक्कू ने बच्चे को मेज के किनारे पर लिटा दिया। जैसा उन्होंने दूसरे बच्चों के साथ किया था, एक सुई बच्चे की नस में लगाकर उसे ऊपर लटकती ग्लूकोज़ पानी की बोतल के साथ जोड़ दिया। दूसरी मांओं की तरह वो भी बच्चे की टाँग थामकर खड़ी हो गई जिससे सुई सीधी रहे और धीरे-धीरे बच्चे के बेजान शरीर में बूँद-बूँद ज़िन्दगी लौटने लगी।

घंटे बीत गये। वो सोचने लगी इलाज में कितना समय लगेगा। उसने तो पति से कहा था कि शाम की वापिसी बस से लौट आयेगी। दोपहर में नर्स कई बार ये पूछने को लौटी कि दस्त अभी भी आ रहे हैं क्या? बच्चे ने पेशाब किया कि नहीं और सुई जाँच कर लौट गई। रक्कू के बेटे को ग्लूकोज़ पानी की

दूसरी बोतल लगाई गई। तीसरे पहर तक वो समझ गई कि अब गाँव की आखिरी बस पकड़ने के लिये वो शहर नहीं पहुँच पायेगी। कर्रुपय्या को कितना गुस्सा और शर्म आयेगी कि उसकी घरवाली ने अकेले शहर में रात बिताई। रक्कू अपने परिवार और पति के प्रति ज़िम्मेदारी और इस बच्चे के बीच खिंचने लगी। आस-पास के दूसरे बच्चों को देख कर उसने समझ लिया कि वे सब ग्लूकोज़ पानी से धीरे-धीरे ठीक होते जा रहे थे और वो बार-बार सोच रही थी कि उसका बच्चा भी शायद उसी तरह ठीक हो जायेगा। उसने रुकने का निश्चय कर लिया। उसे खुद अपनी हिम्मत पर आश्चर्य हो रहा था शायद ये पहला निश्चय था जो उसने खुद अपने आप लिया था।

शाम तक बच्चे के शरीर में कुछ ताक़त लौट आई थी। दस्त रुक गये थे और रात गये नर्स ने बच्चे की टांग से सुई निकाल दी। नर्स ने रक्कू से कहा कि वो सुबह तक इन्तज़ार करे अगर दस्त तब तक फिर शुरू नहीं होते तो वह घर लौट जा सकती है। "पर अगर दस्त होने लगे तो क्या आप कोई गोलियाँ या सुई दे सकती हैं" तब तक नर्स दूसरे बच्चों तक पहुँच चुकी थी। अगले दिन बच्चे को अस्पताल से छुट्टी दे दी गयी। एक और युवा डाक्टर ने बच्चे की जाँच की। रक्कू कहना चाहती थी कि दस्त फिर शुरू हो गये हैं पर रात वाली नर्स ने उसे चुप करा दिया। उन्हें विश्वास था कि ये कोई ख़ास बात नहीं है साथ ही ये भी जोड़ दिया कि "अम्मा अभी सुबह के नये मरीज़ों में और भी बहुत से बीमार बच्चे आयेंगे जिनके लिये सुई और ग्लूकोज़ पानी की ज़रूरत होगी, "ये कह कर वे लोग अगली मेज की ओर बढ़ गये।"

बच्चे की हालत कल से ज़रूर अच्छी थी। अब उसमें दूध पी सकने और रोने की ताक़त आ गई थी। उसने उसे अधगीले कपड़े में लपेटा और अस्पताल के लम्बे गलियारों से बाहर निकलने लगी। एक बार बाहर सड़क पर निकल आने पर उसे अपनी भूख का ध्यान हो आया और उसे याद आया कि उसने दो शाम पहले से कुछ नहीं खाया है। अगर वो शहर के अड्डे तक के लिये बस न लेकर पैदल जाये तो दो इडली खरीद सकती थी पर अकेले भोजन के ठेले पर जाने और फिर बस अड्डे का रास्ता पूछने में उसे इतनी ही तकलीफ़ होनी थी जितनी भूख के कारण। ज्यों वह पतली भीड़ भरी सड़क पर चलने लगी बसें और चमकती कारें इतनी तेज़ी से और क़रीब से गुज़र रही थीं कि उनसे आने वाले धुँएं और धूल से बचना नामुमकिन था।

गाँव लौटने का सफ़र भी उतना ही निराशा से भरा हुआ था जितना एक दिन पहले शहर जाते हुए था। बच्चे को दस्त फिर चालू हो गये थे, पनीले दस्त

जो कि बीमार और कमज़ोर बच्चों में आम बात है। उसका पेट और शरीर इतना कमज़ोर हो चुका था कि कुछ भी खिलाया पिलाया टिक नहीं पाता था। ये कुपोषण के कारण होने वाले दस्त हैं। रक्कू को ये सब समझ में नहीं आता है कम से कम पूरी तरह से नहीं। उसे भी आधा विश्वास तो है कि किसी दुष्ट आत्मा की बच्चे पर छाया है, जैसा कि गाँव में लोग आम तौर पर मानते हैं पर रक्कू ये भी जानती है कि बच्चे के हाथ पैर इस कदर पतले इसीलिए है कि वो काम के लम्बे घंटों तक बच्चे को दूध नहीं पिला पाती है, अपना दूध भी नहीं। बच्चे के मुश्किल से एक महीने का होते ही उसे खेत के काम पर लौटना पड़ा था। ये सब वो जानती है और उसके भीतर ही भीतर घुटन भी होती है पर कुछ और रास्ता सोचने की उसकी हिम्मत नहीं है। हर ग़रीब माँ के सामने ये ही दुख है, ये ही समस्या है। और वो हार कर अपने को कर्मों का भोग सहने के लिये तैयार कर लेती है। गाँव की बस से उतर कर जब वह रवाना हुई तो सूरज सिर पर चढ़ आया था। जब खुले खेतों के पास तक पहुँच गई तब उसने अपने शरीर की थकान महसूस की तीन रातों से न सो पाने और बच्चे के लिये दोबारा उठ खड़े हुये खतरे की थकान। इस शारीरिक और मानसिक थकान के कारण ही वो अपने पति की डाँट डपट की ओर से भी बिल्कुल सुन्न हो गई थी। करूप्पय्या के आने से पहले ही मीना बच्चे को देखने और लम्बी कहानी सुनने आ पहुँची। दाई ने बच्चे को जहाँ सुई लगी थी उस पट्टी बंधे टखने और सूखे होठों को देखा। अन्त में ऊपर देखा और बोली "कल सुबह तक देखते हैं रक्कू" कुछ ठहर कर फिर जोड़ा "कल सुबह तक देखते हैं।" और वो जल्दी से बाहर निकल गई। अभी रक्कू का रागी कूटने का काम बाकी था। जब काम खत्म हुआ और चुल्हे पर रागी उबल रही थी, रक्कू अपनी मिट्टी की दीवार से पीठ टिकाकर बैठ गई। शाम को बढ़ते धुँधले में वो बच्चे के चेहरे की ओर एकटक ताक़ती रही। उसके मन में आती मौत का डर फैलता जा रहा था। उसके विचारों को इस पीड़ा ने घेर लिया था। जकड़ लिया था। उसके घरवालों की डाँट, रक्कू की निराशा देख कर कुछ न कर पाने की बेबसी और उसकी आज्ञा न मानने के गुस्से और शर्मिन्दगी दोनों के कारण थी। उसने पति को खाना दिया और फिर बच्चों को खिलाया।

उस रात जब पति और दोनों बच्चे फूस की छत के नीचे, कमरे में सो रहे थे रक्कू अपने मरते हुए बच्चे का छोटा सा सूखा शरीर गोद में लिये, आंगन में बैठी झुलाती रही चुपचाप। सुबह तक बच्चे के शरीर में कुछ भी जान बाकी न थी पर वो फिर भी झुलाती रही, हल्के-हल्के मौत का विलाप करती हुई।

घरवाले की नींद टूट गई। वैसे तो सारी रात सो ही कहाँ पाया था। हल्की तीखी रोने की आवाज़ ने उसे एक क्षण के लिये सुन्न कर दिया चाहे सारी रात उसे इस आवाज़ के कभी भी उठने का पता था। वो उठा और पंडित के घर के रास्ते पर चल पड़ा। सुबह चढ़ते तक बच्चे को दफ़ना दिया गया। करूपय्या को रक्कू की गोद से बेजान छोटे से शरीर को छीनना पड़ा। चूँकि ये मौत छोटे बच्चे की थी उन्हें ज़्यादा कुछ रस्में नहीं करनी पड़ी जो किसी बड़े की मौत पर करनी पड़ती हैं। फिर भी हफ्तों तक वो छोटी सी मिट्टी की झोपड़ी शोक में डूबी रही।

वे लोग फ़सल पर काम करते रहे। रक्कू मशीन की तरह बेमन से काम करती थी, अपने आस-पास की औरतों के तालमेल से टूटकर। वे लोग अब सब समझती हैं। उन्होंने भी मौत को अपने नन्हें-नन्हें बच्चे छीनते देखा है, अनुभव किया है इसीलिये इन तपते खेतों में झुक कर फ़सल काटते हुए, जिसका कि बहुत कम हिस्सा उन्हें मिलेगा, वे सब रक्कू के दर्द और बेबसी की गहराई को समझती है, उसमें शरीक हैं।

और ज्यों-ज्यों रक्कू रोज़मर्रा के जीने के संघर्ष से टूटेगी, थकेगी, गुस्से के कारण उसके मन में उभरा हुआ वो सवाल फिर पृष्ठभूमि में फिसल जायेगा। वो फिर भूल जायेगी शायद अगले बच्चे की मौत तक।

भाग - 2

अस्वस्थता का ग्रामीण दृष्टिकोण

परिचय

रक्कू के बच्चे की मौत की दास्तान किस बात का प्रतिनिधित्व करती है? क्या यह एक औरत के संघर्ष की दुर्भाग्यपूर्ण इकलौती कहानी है? बिल्कुल नहीं। अपने बच्चे को बचाने के लिये रक्कू को जिन अड़चनों का सामना करना पड़ा वे शायद प्रतिवर्ष कम उम्र में मर जाने वाले उन पचास लाख बच्चों में से अधिकांश के परिवारों की साझी अड़चनें हैं। रक्कू के संघर्ष की विशेष बात सिर्फ़ यह है कि उसने सरकारी स्वास्थ्य सेवा व्यवस्था पाने की कोशिश की। ज़्यादातर गाँव वाले इस व्यवस्था से कटे हुए होने की भावना और उनकी ग़रीबी के कारण इनका इस्तेमाल नहीं करते या नहीं कर पाते।

यद्यपि आज़ादी के बाद से सरकार ने स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में बेइन्तिहा योजनाएं बनाई और साधन जुटाये हैं तो फिर क्या कारण है कि इस औरत और उसके बच्चे के लिये वर्तमान स्वास्थ्य व्यवस्था का होना न होना बराबर रहा? तृतीय विश्व में, चिकित्सा प्रशिक्षण और योग्यता के क्षेत्र में भारत, भाग्यशाली देशों में से एक है। यहाँ प्रतिवर्ष देश के एक सौ छः चिकित्सा विद्यालयों से ग्यारह हज़ार डाक्टर प्रशिक्षण पाकर निकलते हैं। सरकार की ग्रामीण स्वास्थ्य व्यवस्था के अन्तर्गत देश में 5, 400 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों का जाल बिछाया गया है तथा ये सभी सेवाएं मुफ्त उपलब्ध हैं। ज़िला अस्पतालों में रोगनाशक तथा विशेषज्ञों की राय जैसी सेवाएं मिलती हैं तथा वे भी ग्रामीण व शहरी सभी लोगों के लिये निःशुल्क हैं। पूरे देश में दवाइयों की लाखों व्यक्तिगत दुकानें सभी प्रकार की आधुनिक दवाइयाँ मुहैया कराती हैं। यही नहीं, भारत सरकार सक्रिय रूप से पारम्परिक ढंग की देसी चिकित्सा विधियों को भी स्वीकार करती है और बढ़ावा दे रही है। फिर गड़बड़ कहाँ हैं? बेहतरीन चिकित्सा योग्यता की मौजूदगी और बीमारी व ऊँची मृत्यु दर जैसे बुनियादी विरोधाभास एक साथ कैसे मौजूद हैं?

पिछले कई दशकों से अनेक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ इन सवालों पर सोच रहे हैं, उलझन में हैं, कुंठित हैं लेकिन लोगों की स्वास्थ्य आवश्यकताओं के अनुसार इस व्यवस्था को प्रभावशाली बनाने के लिये कटिबद्ध हैं। परिणामस्वरूप नई स्वास्थ्य योजनाओं और तौर तरीकों की श्रृंखला सोची और बनाई गई, बड़े ज़ोर शोर से उद्घाटित और एक के बाद एक लागू भी की गई। हर नई योजना पिछली योजना की खामियों के जवाब के रूप में प्रस्तुत की गई है। लेकिन इन सभी प्रयत्नों के बावजूद इन योजनाओं में जो एक चीज़ दिखाई नहीं देती वह है— गहरी समझ, एक ग्रामीण के दृष्टिकोण से पाई गई समझ, कि आखिर क्यों वर्तमान स्वास्थ्य व्यवस्था आम लोगों की पहुँच से बाहर है। इसके स्थान पर हम पाते हैं कि सरकारी सोच पर ऐसे रवैये हावी हैं जिन्हें मिथक या मिथ्या धारणाएं कह सकते हैं। स्वास्थ्य सेवाओं का पूरा उपयोग न होने पर दी जाने वाली बड़ी सतही सफ़ाइयाँ हैं— जैसे कि ग़रीब ग्रामीणों की अज्ञानता या उनका जिद्दी रवैया अथवा बीमारी के प्रति उनका दकियानूसी सोच या फिर पश्चिमी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा ज़बरदस्ती थोपी गई मान्यता कि विकासशील देशों की जनता इसलिये ग़रीबी और बीमारियों का शिकार है क्योंकि वे ज़्यादा बच्चे पैदा करने पर ज़ोर देते हैं।

यह एक अजीब बात है कि योजनाशास्त्रियों ने शायद ही कभी इस असफलता के कारणों को ग्रामीण निर्धनों के दृष्टिकोण से देखा हो। ऐसा शायद इस कारण है कि कुछ समय तक राजनीतिक व्यक्तित्व या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सलाहकार के रूप में रह चुकने पर ये योजनाशास्त्री पिछली योजनाओं के कामकाज की उस गहरी समझ से महरूम रह जाते हैं जो कठिनतम सवालों को उठाने के लिये चाहिये। यह भी कहा जा सकता है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था अथवा संस्थाओं में इन सलाहकारों व योजनाशास्त्रियों का स्थापित रुतबा, गहरे ढाँचाई सवालों पर नज़र डालने की राह में बाधक हो। अध्ययन का यह दूसरा भाग रक्कू के दृष्टिकोण से देखी गई उन अड़चनों को उजागर करता है जिनके कारण वह अपने बच्चे का जीवन न बचा सकी। हालात की जो व्याख्या उसके ग्रामीण जीवन की आर्थिक सामाजिक सच्चाइयों से उभरती है वह सरकारी मान्यताओं और स्पष्टीकरण से बिल्कुल भिन्न है।

इस ग्रामीण समझ का जायज़ा लेते हुये हम खेतिहर मज़दूर के रूप में रक्कू के जीवन को क़रीब से जानेंगे तथा उसके परिवार की सेहत और स्वास्थ्य सेवाएं पाने की क्षमता पर ग़रीबी का प्रभाव भी देखेगें। अगले अध्यायों में ग्रामीण बहुसंख्यकों की स्वास्थ्य प्राथमिकताओं को परखते हुए यह मूल्यांकन किया

जायेगा कि किस सीमा तक स्वास्थ्य व्यवस्था इन ज़रूरतों को पूरी कर पाने में समर्थ है। हम यह भी समझने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार से स्वास्थ्य सेवाओं का ढाँचा ही ग्रामीण निर्धनों तथा इन सेवाओं के बीच फ़ासला बनाये रखता है। दूसरे शब्दों में अध्ययन का यह भाग रक्कू के संघर्ष को ग़रीबों के रोज़मर्रा के भूख से संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में स्थापित करता है।

अस्वस्थता का आर्थिक आधार

अपने बच्चे को बचाने के लिये रक्कू के सामने कितने कम विकल्प थे और उस पर क्या-क्या रुकावटें थी इन्हें समझने के लिये पहले रक्कू के जीवन के सामाजिक आर्थिक आधार को समझना आवश्यक है। अतः इस अध्याय में ग्रामीण मेहनतकश ग़रीबों की ज़िन्दगी के बारे में और अधिक विस्तार से बताया जायेगा जितना कि उसकी कहानी के माध्यम से संभव नहीं था।

1. मेहनतकश ग्रामीण परिवारों का अर्थ

रक्कू दक्षिण भारत के एक गाँव की सत्ताइस वर्षीय तीन बच्चों की माँ है। वह गाँव की अछूत जाति से है परन्तु जहाँ तक उसकी ग़रीबी का सवाल है वह गाँव की किसी भी निम्न जाति की हो सकती थी। यद्यपि ग़रीबी केवल अछूत वर्ग की थाती नहीं है परन्तु भूमिहीन अछूत परिवारों की नितान्त निर्धनता का अनुपात अन्य जातियों से कहीं ज़्यादा है।

पन्द्रह साल की उम्र में रक्कू अपने से सात साल बड़े मर्द से ब्याह दी गई थी। उसकी शादी के वक्त उसके पति के पास आधा एकड़ सूखी ज़मीन थी लेकिन कुछ सालों बाद पड़े भयंकर अकाल के दौरान लिये गये कर्ज़ को चुकाने में वो ज़मीन बेच देनी पड़ी। अब रक्कू और उसका पति गाँव के बड़े भूमिपतियों की ज़मीन पर दिहाड़ी की मज़दूरी पर ही निर्भर हैं। उनकी दिहाड़ी मज़दूर के रूप में ज़िन्दगी ग्रामीण भारत के ज़्यादातर भूमिहीन अथवा सीमान्त भूमि वाले परिवारों जैसी ही हैं, जो कुल मिलाकर भारत की ग्रामीण जनता का कम से कम आधा भाग है।

चूंकि तमिलनाडू का यह हिस्सा मुख्य रूप से खुश्क है जो सिंचाई के स्थान पर वर्षा पर निर्भर है अतः वहाँ आमतौर पर साल में एक ही बार फ़सल पैदा कर पाते हैं। यदि गर्मियों में अच्छी बारिश होती है तो दूसरी फ़सल लगा पाने

की संभावना बढ़ जाती है यह फ़सल प्रायः मोटे अनाज की होती है जैसे रागी, जो ज़्यादातर मज़दूर परिवारों का मुख्य भोजन है क्योंकि वह चावल से सस्ती है।

इस फ़सल के लिये खेत की तैयारी बुआई, निराई और कटाई से रक्कू को साल में तीन चार महीने का नियमित और उसके पति को अनियमित ढंग से काम मिल जाता है। खेती के कुछ ख़ास काम मर्दों के लिये ही होते हैं जैसे पारम्परिक रूप से खेतों के बीच की मेंढ बनाना और खेत की जुताई करना, बाकी के काम जैसे धान की रोपाई, नियमित निराई, कटाई का अधिकांश काम और कटे हुए धान को कूटने से पहले उसको उबालना, अधिकतर औरतें ही करती हैं। रिवाज़ के अनुसार भूमिपति औरतों को मर्दों की मज़दूरी से आधी या तीन चौथाई मज़दूरी ही देते हैं। जबकि इन सभी कामों में शारीरिक ताक़त से ज़्यादा बारीकी की ज़रूरत होती है। इस प्रकार बराबर का काम करते हुए भी औरतें मर्दों से ज़्यादा उत्पादक हैं। सन 1981 में रक्कू के गाँव में मर्दों की औसत दिहाड़ी मज़दूरी चार और पाँच रुपये के बीच थी, औरतों के लिये यह दो और तीन रुपये थी। पारम्परिक ढंग से भी खेती के जो काम सिर्फ़ औरतें ही करती हैं वो अधिक कमरतोड़ काम हैं। रोपाई, निराई और कटाई के समय औरतें सूरज उगने से लेकर डूबने तक कमर से झुकी हुई खेतों में काम करती दिखाई देती हैं। इस तरह का काम मर्दों के लिये घटिया समझा जाता है। यद्यपि नितान्त ग़रीब परिवारों के कुछ मर्द फ़सल कटाई करते हैं।

साल के बाकी आठ नौ महीनों में छुटपुट काम ही मिलता है। रक्कू और उसका पति कई बार जलावन लकड़ी बटोरने का काम करते हैं। इस ज़िले की अधिकांश ज़मीन खुश्क और बंजर है जहाँ सिवाय कुछ झाड़ियों के और कुछ नहीं उगता मज़दूर परिवार उसे ही तोड़ कर पास के बड़े शहर या कस्बों में ईंधन के लिये बेचते हैं। भूमिपति इस ज़मीन के हिस्से मज़दूरों को पट्टे पर दे देते हैं। आस पास चलने वाला इमारती काम कुछ दिनों की मज़दूरी का साधन बन जाता है। सूखी टहनियाँ बटोरने या सड़क के किनारे-उगी घास इकट्ठा करने जैसे बहुत कम आमदनी वाले काम को भी ये लोग झट से पकड़ लेते हैं क्योंकि यहाँ यदि काम है, तो खाना है।

जब रक्कू के पति के पास आधा एकड़ ज़मीन थी तब रक्कू बड़ी सार संभाल से उसके कुछ हिस्से में सब्ज़ियाँ उगाती थी परन्तु उतनी ही जितने को वह खुद रोज़ पानी ढोकर सींच पाती थी। वह अपनी उगाई हुई फलियाँ, भिण्डी और बैंगन हर दोपहर बाज़ार में बेचती थी। बाकी बची ज़मीन में वे लोग रागी उगाते थे जो एक-दो महीनों के लिये परिवार का पेट भरने के लिये पर्याप्त होती थी।

अब यह ज़मीन जा चुकी है लेकिन अब उसका बड़ा बच्चा कन्नन भूमिपति के पशु चरा कर परिवार की आमदनी में हाथ बँटाने लायक बड़ा हो गया है। उसकी मेहनत के लिये भूमिपति रोज़ उसे एक वक्त दलिये का भोजन और हर महीने पशुओं की देखभाल के लिये दो रुपये प्रति पशु के हिसाब से देते हैं।

2. बच्चों का आर्थिक योगदान

देश के इस भाग में तथा अन्य कई भागों में गाँव के भूमिहीनों के बच्चे काफ़ी कम उम्र से ही परिवार की आमदनी के लिए आवश्यक हो जाते हैं। रक्कू के बेटे की तरह कुछ बच्चे गाँव के धनी परिवारों के जानवर चरा कर सीधे तौर पर आमदनी में हाथ बँटा कर तो कुछ जलावन लकड़ी इकट्ठा करके। छोटी उम्र की लड़कियाँ परोक्ष रूप से मदद करती हैं जैसा कि रक्कू की पाँच बरस की छोटी लड़की जिसने अभी से माँ का घर-गृहस्थी का काम अपने हाथ में ले लिया है इस तरह से अब रक्कू रोज़ बाहर खेती का काम कर सकती है। चार से दस बरस की छोटी उम्र की लड़कियों का सबसे महत्वपूर्ण काम है अपने छोटे भाई बहन को संभालना। इसके अलावा वे पानी भरती हैं, रोज़ के भोजन के लिये अनाज कूटती है और वे दोनों काम ही काफ़ी वक्त लेने वाले हैं।

बच्चों की तीसरी आर्थिक उपयोगिता है कुटीर और छोटे स्तर के उद्योगों में मज़दूरी का काम। ग्रामीण क्षेत्रों के अधिकांश क़स्बों में कड़ी मेहनत चाहने वाले उद्योग पनप गये हैं जो काफ़ी बड़ी तादात में छोटे बच्चों को मज़दूरी देते हैं। रक्कू के ज़िले में इस तरह के उद्योगों में पटाखे और माचिस उद्योग हैं जो छः से बारह या तेरह साल के बच्चों को काम देते हैं। ये बच्चे आमतौर पर मुँह अंधेरे से शाम तक काम करते हैं और उन्हें 'बच्चों की मज़दूरी' मिलती है जो उनके काम के अनुसार पचास पैसे से लेकर कुछ रुपये रोज़ तक है। कुछ इलाकों में कम्पनी के ट्रक या पुरानी बसें सवेरा होने से पहले आस पास के गाँवों से बच्चों को इकट्ठा करती हैं और शाम पड़े वापिस पहुँचाती हैं। अनुमान है कि देश में क़रीब एक करोड़ दस लाख बाल मज़दूर हैं। इन बच्चों के काम के हालात ज़्यादातर बेहद खराब हैं।

आधे से ज़्यादा ग्रामीण परिवारों के लिये बच्चों को पढ़ने भेज पाना आर्थिक रूप से पहुँच से बाहर है इसलिये नहीं कि गाँव के स्कूल मँहगे हैं क्योंकि प्राथमिक शिक्षा तो पूरी तरह निशुल्क है परन्तु इसलिये कि ज़्यादातर भूमिहीन परिवार एक भी बेकमाऊ सदस्य का बोझ ढोने में असमर्थ है यानि हर सदस्य के लिये अपना पेट भरने के लिए काम करना ज़रूरी है। वर्तमान भारत के

केवल 25% बच्चे प्राथमिक शिक्षा पूरी कर पाते हैं। परिवार नियोजन द्वारा दिया गया नारा कि कम बच्चों वाला परिवार ही आराम से रह सकता है, बच्चों को शिक्षा भी दिला सकता है गाँव वालों के लिये महज़ कल्पना है। यह स्थिति देश की सरकार व उच्च वर्ग तथा वे आर्थिक सच्चाइयाँ जिनके बीच बाकी जनता रहती है, के अन्तर को स्पष्ट करती है।*

जैसा कि रक्कू की एक पड़ौसन ने बताया कि "एक जने को पढ़ाने के लिए चार उसे पालने वाले चाहिये।" उसने फिर कहा "पढ़ाई हिसाब रखने के लिये तो ठीक है परन्तु काम पाने के लिए बेकार"।

इस प्रकार से बच्चों की रोज़ की मज़दूरी ग़रीब परिवारों के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। यह आमदनी आमतौर पर उतनी ही होती है जितनी उसका पेट भरने के लिए ज़रूरी है। जैसे ही बच्चे किशोर होते हैं वे ज़्यादा भारी परन्तु अच्छी आमदनी वाला खेती का काम करने लगते हैं।

3. ग़रीबी रेखा

रक्कू और उसके पति को रोज़ की मज़दूरी, कटाई की मेहनत के एवज़ में मिला थोड़ा सा अनाज और उनके बेटे की कमाई मिलाकर जो कुछ इकट्ठा होता है लगभग उतनी ही आमदनी बाकी भूमिहीन घरों में है।

इसका मतलब यह है कि अगर वो रोज़ काम करें तो अगले दिन अपना और अपने परिवार का पेट भर पायेगें। मज़दूरी और ख़ासतौर पर औरतों की मज़दूरी तो मुश्किल से पेट भरने के लिये काफ़ी होती है उसमें से तो कुछ भी नहीं बचाया जा सकता 'उड़ाने' का तो सवाल ही क्या। देश की ग़रीबी की सीमा रेखा की परिभाषा स्पष्ट रूप से मेहनतकश मज़दूरों की इस आर्थिक सच्चाई की ओर इशारा करती है। एक परिवार ग़रीबी की सीमा रेखा से नीचे

*इसका यह अर्थ नहीं कि ग़रीबों के बच्चों के स्कूल न जा पाने का कारण केवल आर्थिक है या यह कि जब तक ग़रीबी दूर नहीं होती प्राथमिक शिक्षा के प्रसार को रुकना पड़ेगा। मज़दूर परिवारों की परेशानियों का ख्याल करते हुये प्राथमिक शिक्षा को इस ढंग से गठित किया जा सकता है कि बच्चों को शाम को पढ़ाया जाये जब उन्हें फ़ुरसत होती है। बच्चों की कम उपस्थिति का एक अन्य कारण भी है। मज़दूर और निम्न जाति के बच्चों के लिये स्कूल जाना कभी कभी बाकी बच्चों और अध्यापकों के कठोर और अपमानजनक व्यवहार के कारण दुखद अनुभव बन जाता है। यह बातें ग़रीबों की परेशानियों को दुगना कर देती हैं।

तब समझा जाता है जबकि यदि परिवार की सम्पूर्ण आय का 80% सबसे सस्ते भोजन (और ईंधन) पर ख़र्च करके भी वो अपनी पोषण (कैलोरी) ज़रूरतों को पूरा नहीं कर पाता। सरकार के अनुमान के अनुसार जनसंख्या का 48.8% भाग आज भी ग़रीबी की सीमा रेखा से नीचे जी रहा है। हाल के अध्ययनों ने सुझाया है कि वास्तव में ग़रीबी की सीमा रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या का अनुपात बढ़ रहा है।

केन्द्रीय श्रम मंत्रालय ने ग़रीब मज़दूरों की बदली आर्थिक कठिनाइयों के बारे में लिखा है। यह बताता है कि 1974-78 में रोज़ की मज़दूरी का वास्तविक मूल्य पिछले दशक की तुलना में 12% घट गया था। इसके अतिरिक्त उसी समय के दौरान भूमिहीन मज़दूरों की कुल संख्या 70% (दो करोड़ अस्सी लाख से बढ़ कर चार करोड़ सत्तर दशमलव पाँच लाख) हो गई। जबकि खेतिहरों (भूमिपति परिवारों) की संख्या घट गई — यह सिद्ध करता है कि छोटे खेतिहर परिवारों को ग़रीबी और कर्ज़ के कारण अपनी ज़मीनों से हाथ धोना पड़ा।

ग़रीबों के बिगड़ते हालात के बावजूद इन्हीं वर्षों के दौरान देश का प्रति व्यक्ति कुल राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ा। इसका अर्थ है कि धनी और निर्धनों के बीच का अन्तर भी बढ़ा है। यद्यपि आँकड़ों की जन्मजात ख़ामियों से इन्कार नहीं किया जा सकता परन्तु इस प्रकार के आँकड़ें जिन सामान्य ढर्रों और तथ्यों की ओर इशारा करते हैं वे बहुत चिन्ताजनक है।

किसी भी परिवार के लिये ग़रीबी की सीमा रेखा से नीचे जीने का वास्तव में क्या अर्थ है? उसके सदस्यों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसका अर्थ है कि जैसा भी छोटा-मोटा काम जब भी मिले वे उसे करने के लिये बाध्य हैं। एक दिन के लिये भी काम न करने का तुरन्त परिणाम होता है, भोजन की मात्रा में कमी, कर्ज़ में बढ़ोतरी जो कि कड़ी भूख से भी बदतर विकल्प है। इसका यह भी अर्थ है कि स्वास्थ्य केन्द्र तक जाने के लिये बस का किराया जैसी 'विलासिता' के लिये पैसा नहीं होता। यदि ऐसे ख़र्चे किये भी जाते हैं तो सचमुच में उसका दाम भोजन में कटौती कर के चुकाना पड़ता है। उस भोजन से कम से कम उनका और उनके बच्चों का थोड़ा बहुत पेट तो भरता, ज़ाहिर है कि इस तरह का विकल्प संभव तो है परन्तु आसान नहीं — भूख की तकलीफ़ और उससे पैदा होने वाले खतरों, दोनों के कारण ही ऐसा कर पाना कठिन है। हर बार अस्थाई भुखमरी से गुज़रने के साथ, परिवार की काम करने की ताक़त घट जाती है और बीमारी की संभावना बढ़ जाती है अर्थात वही कुपोषण व बीमारी का चक्र सर्वदा मौजूद रहता है।

एक बार परिवार कर्ज़े में फंस जाये तो फिर चाहे वह बेकारी या बीमारी के कारण हो या बेटे-बेटी के विवाह पर किया गया छोटा सा उत्सव हो, उस उधार को चुकाना अत्यन्त कठिन होता है। उसे तभी चुकाया जा सकता है यदि खाने की मात्रा कम कर दी जाये या फिर जैसा कि अब भी होता है माता-पिता अपने बच्चों को ज़मींदार परिवार में बंधुआ मज़दूर बना दें। ज्यादातर ग्रामीण निर्धन स्थानीय साहूकार को बहुत ऊँची दर पर सूद देते हैं यहाँ तक कि उसका भुगतान पहली बार ली गई रकम के बराबर ही हो जाता है। तमिलनाडू के ग्रामीण क्षेत्र में हुये एक अध्ययन से इस बोझ के बारे में पता लगा है कि आमतौर पर निम्न जाति और हरिजन वर्ग के लोगों को थोड़ी सी आमदनी का भी लगभग 10% भाग सूद चुकाने में ही निकल जाता है। लगभग दो तिहाई ग्रामीण परिवार कर्ज़ के बोझ तले दबे हैं और धीरे धीरे यह अनुपात बढ़ रहा है।

इस तरह से अधिकांश ग्रामीण परिवारों के लिए दिहाड़ी की मज़दूरी पाने का संघर्ष लगातार चलता रहता है तथा कर्ज़ और भूख के बीच संतुलन रखना बड़ा कठिन हो जाता है। पोषण तथा स्वास्थ्य की देख रेख के क्षेत्र में इस क़दर असुरक्षा का मतलब काफ़ी संगीन होता है।

पोषण में निहित अर्थ

रक्कू के परिवार की पूरी आमदनी उनका पेट भर पाने के लिये भी कठिनाई से पूरी पड़ती है। गाँव के ज़्यादातर ग़रीब सबसे मोटे अनाज पर जीवित रहते हैं, जो पेट भरने का सबसे सस्ता साधन है। रक्कू के क्षेत्र में रागी-नामक मोटा अनाज ही ज़्यादातर परिवारों के लिये पोषण का स्रोत है। भारतीय भोजन की आम वस्तु दाल, जो प्रायः पोषण विशेषज्ञों द्वारा ग़रीबों के लिये 'प्रोटीन' का स्रोत मानी जाती रही है, इन ग़रीब मज़दूर परिवारों की पहुँच से बाहर है। शादी अथवा किसी धार्मिक उत्सव के अलावा वे लोग अन्य किसी दिन दाल खाने का ख़र्चा नहीं उठा सकते। पारम्परिक पश्चिमी या धनी भारतीय परिवारों के प्रोटीन युक्त खाद्य पदार्थ दूध, अंडा मांस का तो इन ग़रीबों के आम भोजन में कोई स्थान ही नहीं है। यहाँ तक कि चावल भी प्रायः कुछ ख़ास मौकों के लिये ही बचा कर रखा जाता है।

इस प्रकार से भारत के इस भाग के ग्रामीण निर्धनों का मुख्य भोजन मोटे अनाज का उबला हुआ दलिया है जिसमें स्वाद के लिये प्याज़ और लाल मिर्च के कुछ टुकड़े मिला दिये जाते हैं। पारम्परिक ढंग के भारतीय मसाले भी इनके लिये विलासिता है। मज़दूर परिवारों को जब साल में अनेक बार यह साधारण

सा बुनियादी भोजन भी भरपेट नहीं मिल पाता तो फिर पोषण और भोजन की गुणवत्ता की बात तो व्यर्थ सी लगती है।

बैनर्जी द्वारा दिये गये ग्रामीण क्षेत्रीय अध्ययन में बताया गया है कि अध्ययन के लिये चुने गये परिवारों में से 36% परिवारों को साल में कम से कम तीन से लेकर छः महीनों तक भूख मिटाने के लिये दिन में दो बार खाना भी नहीं मिलता। उस पर ऐसा असंतुलित, उबाऊ और अपर्याप्त भोजन पाने वाले लोग ही समाज में सबसे कड़ी मेहनत वाला शारीरिक कार्य करते हैं। इस प्रकार के विरोधाभासों का मूल्य स्पष्ट रूप से कुपोषण, मज़दूर बच्चों तथा वयस्कों की ऊँची मृत्यु दर है जैसा कि हम अध्याय दो में देखेंगे।

स्वास्थ्य क्या है?

एक बार जब हम यह समझ लेते हैं कि लगभग दो तिहाई भारतीय परिवार अपनी आमदनी का 80% भोजन पर ख़र्च करके भी अपने शरीर की बुनियादी पोषण ज़रूरतों को पूरा नहीं कर पाते, तो यह भी समझ सकते हैं कि स्वास्थ्य सेवाएं पाने की दिशा में ज़्यादातर लोगों के सामने कौन सी आर्थिक मुश्किलें हैं।

बीमारी की रोकथाम के लिये नियमित रूप से ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्र पर जा पाना तो दूर की बात है, बीमार पड़ जाने के बाद बच्चे को अस्पताल ले जाने के लिये उनके पास बस का किराया तक होने की संभावना नहीं है। इससे भी बुनियादी बात यह है कि बीमार बच्चे की देखभाल के लिये भी औरत अपने काम से छुट्टी नहीं ले सकती क्योंकि उसका तुरन्त परिणाम होगा उसके और बच्चे के लिये भोजन की मात्रा में और अधिक कमी और कुपोषण। यह आशा करना कहाँ तक व्यावहारिक है कि गाँव की एक औरत स्वास्थ्य केन्द्र की कार्यकर्ताओं द्वारा इलाज पाने के लिये अपने काम की छुट्टी करके घर पर बैठी रहेगी जबकि स्वास्थ्य सेविकाएं कभी कभी ही (उसके नज़रिये से) उसके गाँव आती हैं। रक्कू के गाँव की एक युवा माता ने मज़दूर परिवारों की ग़रीबी से पैदा दुविधा के बारे में बड़े दुख से कहा —"जब खेती का काम ही सबसे ज़रूरी है तो फिर बच्चा स्वस्थ कैसे हो सकता है।"

इस प्रकार के सवालों की रोशनी में आम मज़दूर परिवारों के लिये वर्तमान स्वास्थ्य सेवाएं क्या मायने रखती हैं इस पर दोबारा विचार किया जाना चाहिये परन्तु पहले हम एक बार फिर से रक्कू के गाँव की ओर लौटते हैं ताकि क़रीब से यह देख सकें कि उसकी ग़रीबी ने उसके बच्चों के स्वास्थ्य पर क्या असर डाला है?

रक्कू का तीसरा बच्चा उसकी बेटी पौन्नू के जन्म के तीन साल बाद पैदा हुआ

था। बच्चा जन्म के एक सप्ताह के भीतर ही टिटेनस (धनुष्टंकार) से मर गया, यह नवजात बच्चों की मृत्यु का आम कारण है। टिटेनस की छूत, नाल कटने के स्थान से लगती है और ग्रामीण घरों में टिटेनस के कीटाणु चारों ओर होते हैं। यद्यपि गर्भ के दौरान टिटेनस टौक्साइड के दो इन्जैक्शन लगाने मात्र से इस छूत से बचा जा सकता है। भारतीय सरकार ने नवजात बच्चों की मृत्यु में टिटेनस की भूमिका को समझाते हुऐ प्रसव के पूर्व व पश्चात टीके लगाने को स्वास्थ्य सेविका की कार्यवाहियों में मुख्य काम माना है। तथापि यह भी सच है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपने इलाके के केवल उन्ही गाँवों तक पहुँच पाती है जहाँ तक बस जाती है और इन गाँवों की अनेक स्त्रियाँ अपने खेती के काम या अन्य मज़दूरी के कारण इन कार्यक्रमों का फ़ायदा नहीं उठा पातीं।

सारी समस्या का सार यह है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता की कार्यवाहियों में परिवार नियोजन को बढ़ावा देना शामिल होने तथा अपने लक्ष्यों को पाने पर ज़ोर देने के कारण गाँव वाले इन सरकारी स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं पर गहरा अविश्वास करते हैं। इस प्रकार टीका कार्यक्रम से लाभ पा सकने वाली औरतों की गिनती और भी कम हो जाती है। परिणाम यह है कि लगभग पाँच लाख बच्चे प्रतिवर्ष एक ऐसी बीमारी के कारण मर जाते हैं जिसे काबू में करना बहुत आसान और सस्ता है।

इस प्रकार से ग्रामीण जीवन की ग़रीबी और आर्थिक ढाँचा औरतों के काम के हालात को निश्चित करता है और उसके कारण ग्रामीण स्तर की सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था भी ग्रामीण निर्धनों की पहुँच से बाहर हो जाती है।

मज़दूर औरतों के काम के लम्बे घंटे और परिस्थितियाँ अपने आप भी सीधे तौर पर कुपोषण और बीमारी के लिये ज़िम्मेदार हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बच्चों में कुपोषण पैदा करने का एक मुख्य कारण, दिन के अधिकांश भाग में माँ घर में होती ही नहीं है। जिससे छोटे बच्चों को नियमित पोषण याने न तो माँ का दूध और न ही सहायक खाद्य मिल पाते हैं। कामकाजी माएं आमतौर पर प्रसव के महीने भर के भीतर ही खेती के काम पर जाना शुरू कर देती हैं। इस प्रकार सारा दिन अपने दुधमुँहे बच्चे से दूर रहती हैं। यदि यह मौसम फ़सल कटाई का हो तो माताऐं प्रसव के सप्ताह भर के भीतर ही काम पर लौटने के लिये मजबूर हो जाती हैं। यदि खेत के पास ही कोई पेड़ हो जिस पर औरतें अपने बच्चे के लिये झूला बांध सकें तो वे अपने छोटे बच्चे को अपने साथ खेत पर भी ले जाती हैं परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। ज़्यादातर तो बड़ा बच्चा ही शिशु को खेत पर ले जाता है ताकि माँ उसे दूध पिला सके परन्तु इससे भी बच्चे की बार बार दूध और पोषण पाने की आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती

ख़ासतौर पर यदि खेत एक किलोमीटर या उससे अधिक दूर हो।

परिणामस्वरूप छः माह के बच्चे की ज़रूरत के अनुसार स्तनपान के अलावा दिन में तीन चार बार ऊपरी भोजन के स्थान पर उसे सिर्फ़ एक या दो बार ही कुछ खाने को मिलता है वो भी शाम को जब बाकी परिवार भोजन करता है उसके बाद सुबह ही शायद कुछ दिया जाता है। कुछ बच्चों को संभालने वाले उनके बड़े भाई या बहन खुद काफ़ी छोटे होते हैं और इस तरह बालक को पूरी सार संभाल मिलना असम्भव हो जाता है।

दो साल पहले तक, जब रक्कू की सास ज़िन्दा थी तो वही छोटे बच्चे को संभालती थी, कम से कम अपने जीवन के आखिरी साल में, जब वह कमज़ोरी के कारण खेत का काम नहीं कर पाती थी। ऐसा मान लिया जाता है कि ग्रामीण परिवारों में अवश्य ही कोई न कोई बूढ़ी औरत होगी जो माँ के काम पर चले जाने पर बच्चों को संभाल ले परन्तु वास्तव में केवल ज़मींदार परिवारों में ही संयुक्त परिवार है जहाँ बहुत से सम्बन्धी, दादा-दादी सभी एक ही घर में रहते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था बड़े ज़मींदार परिवारों के लिये ही संभव है क्योंकि उनका आर्थिक आधार काफ़ी मज़बूत होता है और सभी लोगों का ख़र्चा उससे निकल आता है और इसी कारण वे साथ रह पाते हैं परन्तु ग़रीबों और ख़ासतौर पर भूमिहीनों के साथ ऐसा नहीं है। अधिक व्यावहारिक ढंग की खोज में संयुक्त परिवार टूट जाते हैं। घर के वयस्क वहाँ चले जाते है जहाँ ज़मींदार उन्हें काम दे सके या जहाँ कहीं कोई छिटपुट मौसमी मज़दूरी मिल रही हो। यदि कोई बूढ़ा सदस्य या दादा-दादी छोटे परिवार के साथ रहते भी हैं तो वे भी जब तक बेहद कमज़ोर न हो जायें बराबर सक्रिय कामकाजी सदस्य होते हैं, और कुछ नहीं तो ईंधन के लिये लकड़ियाँ बटोरते हैं और इस तरह घर पर छोड़े गये बच्चों को संभालने की स्थिति में नहीं होते।

इस प्रकार से मज़दूर औरतों के बच्चों की सामान्य देखभाल और उनके पोषण की स्थिति साफ़ हो जाती है परन्तु समस्या केवल यही नहीं है कि औरतें काम पर जाती हैं बल्कि वे शोषणकारी हालात हैं जिनमें उन्हें मज़दूरी करनी पड़ती है। यदि ग्रामीण औरतें संगठित होकर ऊँची मज़दूरी, नौकरी की सुरक्षा, बालकों की देखभाल की सुविधा की माँग कर सकतीं तो उनके बच्चों को समय पर दूध मिल पाता और बग़ैर पूरे घर का आर्थिक सर्वनाश किये, वे बीमारी में अपने बच्चों की देखभाल कर पातीं। इस प्रकार के वैकल्पिक हलों की चर्चा इस किताब के अन्तिम अध्याय में की गई है।

4. औरतें और अस्वस्थता

सभी ग़रीब मज़दूरों की नितान्त ग़रीबी की दशा में भी यह स्पष्ट है कि औरतें दोहरा बोझ उठाती हैं। पारम्परिक सांस्कृतिक सोच के अनुसार पूरे समाज में औरत का दर्ज़ा नीचा है और उसके पास नाम मात्र के हक़ हैं। ज़ाहिर है कि इससे उनकी अस्वस्थता का बोझ बढ़ता है। इस प्रकार की विचार व्यवस्था मज़दूर औरतों को दो स्तर पर प्रभावित करती है पहला - ज़मींदार उनका आर्थिक शोषण करते हैं। और दूसरा - मज़दूर वर्ग के भीतर भी वे शोषित हैं।

उदाहरण के लिये इसी प्रकार के विश्वास के तहत ज़मींदार मज़दूर औरतों को कम मज़दूरी देना जायज़ मानते हैं जबकि अधिकांश औरतें मर्दों के बराबर उत्पादन कार्य करती हैं। मज़दूर औरतों की आर्थिक परेशानियों और निर्भरता के कारण ही वे ज़मींदारों की वासना का शिकार बनती हैं। इसके अलावा हालाँकि मज़दूर वर्ग में औरतों के घटिया दर्ज़े के दूसरे चिन्ह जैसे दहेज, बहूदाह, पर्दा दबाव आदि नहीं हैं (मध्यम तथा उच्च वर्ग की तुलना में) यह भी सच है कि मज़दूर परिवारों के भीतर भी औरतें दुगना तिगुना बोझ उठाती हैं। बच्चे पैदा करना, पालना, घरेलू श्रम और साथ ही घर के बाहर मज़दूरी हाल ही के पोषण व श्रम शक्ति व्यय के अध्ययन से इस तिहरे बोझ का पता चलता है। स्त्रियों के हिस्से में ग्रामीण परिवार की प्रतिदिन की श्रमशक्ति व्यय का 53% आता है जबकि पुरुष 31% और बच्चे 16% हिस्सा बंटाते हैं। कर्नाटक के उसी अध्ययन से यह भी मालूम हुआ कि स्त्रियाँ लगभग 700 कैलोरी अथवा उनकी श्रमशक्ति का एक तिहाई घरेलू काम पर ख़र्च करती हैं जैसे खाना पकाना पानी, ईंधन लाना। इन आँकड़ों में स्त्रियों द्वारा स्तनपान कराने अथवा गर्भावस्था के दौरान लगातार होने वाली पोषण की कमी का तो ज़िक्र ही नहीं है।

स्त्रियों और बच्चों में बीमारी और ऊँची मृत्युदर में इस प्रकार के अतिरिक्त शारीरिक बोझ की अहम भूमिका है। आश्चर्य नहीं कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संभावित औसत आयु कम है। इस प्रकार भारत विश्व के उन कुछ देशों में से एक है जहाँ आज भी स्त्री के हक़ पुरुष के अनुपात में कम हैं जो स्वाभाविक नहीं है। इस प्रकार की विपरीत परिस्थिति का एक मुख्य कारण बालपन में ही लड़कियों की अधिक मृत्यु भी है, जिससे बेटे का ऊँचा आर्थिक महत्व भी दिखाई पड़ता है। इस प्रकार के सांस्कृतिक मुद्दों का महत्व होने के बावजूद इस अध्ययन में अस्वस्थता पर प्रभाव डालने वाले सामान्य आर्थिक कारणों पर दृष्टि केन्द्रित की गई है। ऐसा अनेक कारणों से किया गया है।

जानकारी व स्थान की कमी (स्त्रियों में अस्वस्थता अपने आपमें अध्ययन का एक विषय है) तथा कुछ इस विश्वास के कारण जैसा कि रक्कू की कहानी से पता चलता है कि स्त्रियों में अस्वस्थता का मुख्य कारण उनके परिवार की ग़रीबी है। जैसा कि आगे विश्लेषण में बताया गया है यह ग़रीबी समाज में सामान्य रूप से शोषणकारी वर्ग सम्बन्धों के कारण है। तदापि स्पष्ट रूप से सांस्कृतिक नियमानुसार स्त्रियों का नीचा दर्ज़ा और दबाव उनके अस्वस्थता के बोझ को और भी बढ़ा देते हैं। इस प्रकार से यह एक ऐसा मुद्दा है जिसे किसी भी सामाजिक परिवर्तन की कार्रवाई में अलग स्थान मिलना चाहिये।

इस अध्ययन में रक्कू के जीवन तथा अधिकांश ग्रामीण मज़दूरों के जीवन की आर्थिक सच्चाइयों की चर्चा की गई है, जिनके कारण स्वास्थ्य सेवाएं उनकी पहुँच से बाहर हो जाती हैं और रोज़मर्रा की पेट भरने की लड़ाई की तुलना में वे गौण हो जाती हैं। दुर्भाग्य से अस्वस्थता की समस्या के तकनीकी समाधान देने की हड़बड़ी में एक सामान्य सी सच्चाई को नज़रअन्दाज़ कर दिया गया है कि सेहत के लिये पहली ज़रूरत है, भरपेट संतुलित भोजन। बांग्लादेश में हाल के एक स्वास्थ्य विश्लेषण ने स्पष्ट रूप से यह बात फिर दोहराई है कि "सही मात्रा में सही स्तर के पोषक तत्वों से युक्त भोजन पर स्वास्थ्य निर्भर करता है।" लेखक ने निष्कर्ष दिया है कि — "स्वास्थ्य के हक़ के लिये बुनियादी ज़रूरत है भोजन पर हक़" जब तक इस राजनीतिक हक़ को समझा और लागू नहीं किया जाता लोगों के स्वास्थ्य में सुधार नहीं हो सकता।

अस्वस्थता - मिथक और सच्चाइयाँ

पूर्वचर्चित ग्रामीण परिवार की आर्थिक कठिनाइयों से कुछ उन कारणों का पता लगता है जिनकी वजह से आधुनिक स्वास्थ्य व्यवस्था अधिकांश ग्रामीणों की पहुँच से बाहर है। इनसे यह भी मालूम होता है कि किस प्रकार से ग़रीबी (और उसके परिणामस्वरूप कुपोषण) अस्वस्थता का सबसे बड़ा कारण है। इस अध्याय में हम भारत में रोकी जा सकने वाली बीमारियों और मृत्यु के विशिष्ट कारणों की खोज करेगें, तथा जानेंगे कि अस्वस्थता का सबसे अधिक बोझ किन पर है। विस्तृत अध्ययन की कमी तथा सारे देश के बारे में सामान्यीकरण करने की कठिनाइयों के बावजूद कुछ ढर्रे स्पष्ट रूप से सामने आते हैं।

1. अस्वस्थता का बोझ किन पर

यदि हम जनसंख्या को तीन मुख्य आयु वर्गों में बाँटे तो मृत्यु दर का अर्थ समझ में आता है।

1. छोटे बच्चे - पाँच वर्ष से कम आयु के।
2. बड़े बच्चे तथा 65 वर्ष तक के वयस्क।
3. 65 वर्ष से ऊपर वयस्क।

अनेक ग्रामीण स्वास्थ्य अध्ययनों ने बताया है कि छोटे बच्चों की मृत्यु प्रति वर्ष देश की कुल मृत्यु संख्या का 40 - 55% तक है (तुलनात्मक रूप में 1980 में कनाडा में पाँच वर्ष से छोटे बच्चों की मृत्यु, कुल मृत्यु संख्या का केवल 2.7% थी) यह बात और भी महत्वपूर्ण हो जाती है जबकि हम यह देखते हैं कि प्रतिवर्ष बच्चों की मृत्यु की संख्या समय से पहले (65 वर्ष से पूर्व) होने वाली कुल मृत्यु संख्या का दो तिहाई भाग होती है। इस विषय में किसी और तर्क की आवश्यकता ही नहीं कि स्वास्थ्य योजनाओं में सबसे पहली प्राथमिकता इस प्रकार की बाल मृत्यु को दी जानी चाहिये।

इन आँकड़ों का मरने वाले बच्चों की संख्या के सम्बन्ध में क्या मतलब है ? वास्तव में इसका मतलब है कि भारत में पैदा होने वाले लगभग चौथाई बच्चे अपने पहले जन्मदिन से पहले ही मर जाते हैं। भारत में लगभग दो करोड़ बीस लाख बच्चे हर वर्ष पैदा होते हैं इसका अर्थ है कि कम से कम पचास लाख बच्चे हर साल छोटी आयु में मर जाते हैं।

2. मृत्युदर के कारण

इन बाल मृत्यु में से अधिकांश, शायद पैंतालीस लाख तक मौतें रोकी जा सकने वाली बीमारियों से होती हैं। दस्त, नवजात शिशु में टिटेनस, सर्दी, खसरा, टाइफाईड और तपेदिक जैसी बीमारियाँ इस सूची में सबसे आगे हैं। ये सभी छूत की बीमारियाँ हैं जिनके लिये या तो टीके मौजूद हैं या फिर सामान्य से इलाज से ठीक हो सकती हैं। बाल मृत्यु के ग़ैर छूत वाले मुख्य कारण हैं— समय से पहले जन्म या जन्म के दौरान होने वाली क्षति। बालमृत्यु के विषय में अधिक विस्तृत ब्योरा परिशिष्ट II में शामिल किया गया है। परन्तु यहाँ भी इन बच्चों की कुल संख्या के बारे में कुछ जानकारी देना लाभप्रद होगा। दस्त के कारण शरीर में पानी की कमी से वर्ष में लगभग दस लाख बच्चे मर जाते हैं। नवजात शिशुओं में टिटेनस और खसरे से क्रमशः पाँच और ढाई लाख बाल मृत्यु होती हैं।

कुपोषण की भूमिका

अधिकांश अध्ययनों में कुपोषण से होने वाली मृत्यु को किसी अलग खाते में नहीं रखा जाता जब तक कि यह अत्यन्त गंभीर रूप न ले ले जिसे सूखा रोग (मेरेस्मक क्वाशियोरकोर) का नाम दिया जाता है। तथापि यह मानी हुई बात है कि पचास लाख बाल मृत्यु में से अधिकांश के पीछे कुपोषण का हाथ होता है। कुपोषित बच्चा बड़ी आसानी से दस्त, खसरा, तपेदिक जैसी आम छूत की बीमारियों का शिकार हो जाता है।

जबकि कुपोषित बालक की किसी भी बीमारी से उबरने की ताक़त काफ़ी कम होती है, यह बात खसरे रोग के उदाहरण में बड़ी साफ़ तौर पर नज़र आती है। अत्यन्त कुपोषित बच्चे के लिये खसरा प्रायः घातक सिद्ध होता है जबकि सेहतमंद बच्चों में यह केवल कुछ दिनों का बुखार भर होता है। दक्षिण तमिलनाडू में स्त्रियाँ दोनों तरह के खसरे से परिचित हैं। आश्चर्यजनक रूप से वे यह भी जानती हैं कि किन बच्चों को गंभीर रूप का खसरा होने की संभावना है यानि

कि झोंपड़ियों में रहने वाले ग़रीबों के बच्चे।

नवजात शिशुओं की मृत्यु में भी कुपोषण का बड़ा हाथ होता है, ख़ासतौर पर समय से पहले जन्मे कमज़ोर बच्चों में। कम वज़न के कमज़ोर बच्चों के जन्म का सम्बन्ध कुपोषित बीमार मज़दूर औरतों से है जो भोजन की कमी और रोज़ की मज़दूरी के बोझ के कारण छोटे बच्चों को जन्म देती है जो ज़ाहिर है अन्य सामान्य स्वास्थ्य वाली माँओं के बच्चों से कम वज़न और कमज़ोर होते हैं। पारम्परिक रूप से परिवार में गर्भवती स्त्री की विशेष देखभाल की व्यवस्था होती है। परन्तु ग़रीब औरतों के पास आख़िर समय तक काम करने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। दक्षिण तमिलनाडू में अनेक बच्चों के 'कट्टूरानी' 'कट्टू राजा' जैसे नाम नये नहीं हैं, जिनका अर्थ है खेतों की रानी या खेतों का राजा। क्योंकि ये बच्चे वास्तव में खेतों में ही जन्म लेते हैं यानि प्रसव के दिन तक औरतें खेतों में काम करती रहती हैं।

अनेक अध्ययनों में छोटे बच्चों में कुपोषण के स्तरों को मापा गया है। 1970 में राष्ट्रीय पोषण संस्थान द्वारा किये गये अध्ययन से पता लगा कि लगभग 18% अत्यन्त गम्भीर रूप से कुपोषित हैं तथा 65% थोड़े कुपोषित हैं। आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में हुये अध्ययनों से पता चलता है कि अधिकांश छोटे बच्चों के भोजन की मात्रा उनके लिये पूरी नहीं पड़ती है। उदाहरण के लिये पंजाब में हुये एक अध्ययन के अनुसार 65% से 79% छोटे बच्चों (छः से चौबीस महीने की आयु के) को भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद द्वारा सुझाई गई कैलोरी मात्रा का 75% से कम भोजन मिलता है यद्यपि यह सही है कि परिषद द्वारा सुझाई गई मात्रा न्यूनतम आवश्यकता से कुछ ऊपर होता है ताकि शक्ति संचय हो सके। परन्तु फिर भी उसका 75% से कम भोजन तो निसन्देह काफ़ी सीमा तक कुपोषण की स्थिति पैदा करेगा। इससे भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि 1955 तथा 1958 के तुलनात्मक अध्ययन में बच्चों के पोषण स्तर में बहुत कम सुधार नज़र आया बल्कि कुछ सीमा तक 1958 के आँकड़े और भी बिगड़ी दशा बताते हैं।

भोजन की मात्रा का सीधा सम्बन्ध परिवार की आमदनी से है। उदाहरण के लिये 1958 के एक पर्चे से मालूम होता है कि केवल 5% बच्चे धनी भारतीय परिवारों के बच्चों के औसत वज़न तक पहुँच पाते हैं। दो अन्य अध्ययन भी निर्धनता और कुपोषण के बीच सम्बन्ध को दर्शाते हैं। पहले अध्ययन के अन्तर्गत लिये गये नौ प्रान्तों में से सभी में ज़मीन पर हक़ घटने के साथ-साथ कुपोषण में लगातार बढ़ोत्तरी पाई गई। दूसरे अध्ययन में आमदनी/ख़र्च में कमी के साथ

ही पर्याप्त मात्रा में भोजन पाने वाले परिवारों की संख्या में भी स्पष्ट रूप से कमी दिखाई दी।

ग़रीबों के बच्चों के लिये अल्प पोषण का क्या अर्थ है ? सरकारी अस्पतालों में भर्ती कुपोषित बच्चों की बड़ी संख्या साफ़ तौर पर कुपोषण और बीमारी के बीच सम्बन्ध की कहानी कहती है। तथापि कुपोषण व मृत्युदर के आपसी सम्बन्ध के बारे में बहुत कम अध्ययन हुये हैं। एक तो इस प्रकार के आँकड़े एकत्र कर पाने में कठिनाई है (गंभीर कुपोषण की पहचान करते समय स्वास्थ्य कार्यकर्ता या शोधकर्ता के लिए उनकी चिकित्सा व पोषण की आवश्यकताओं को नज़रअन्दाज़ कर केवल आँकड़े इकट्ठे करना बहुत कठिन है परन्तु इस प्रकार अध्ययन परिणाम परिवर्तित हो जाते हैं) फिर भी तृतीय विश्व के अनेक देशों में हुये अध्ययनों ने अल्प पोषित बच्चों में बीमारी व मृत्यु दर निश्चित रूप से ऊँची दर्शाई है। उदाहरण के लिये हाल ही में बांग्लादेश के एक अध्ययन से पता चलता है कि गंभीर से लेकर थोड़े कुपोषण के शिकार शिशुओं के लिये एक माह के भीतर मर जाने का खतरा उसी गाँव के पर्याप्त पोषण पाने वाले बच्चों की तुलना में 20% अधिक था। इस प्रकार के शोध परिणामों के द्वारा, झुग्गी - झोपड़ियों में काम करने वाले स्वास्थ्य कार्यकर्त्ताओं के अनुभवों की पुष्टि होती है। जिन्होंने ग़रीबी कुपोषण, बीमारी तथा ऊँची मृत्युदर के बीच स्पष्ट सम्बन्ध पाया है।

3. कौन से छोटे बच्चे ?

हमने पूरे देश के परिप्रेक्ष्य में बालमृत्यु दर को देखा है और यह जाना है कि मोटे तौर पर चौथाई संख्या में बच्चे बालपन में ही मर जाते हैं परन्तु ये आँकड़े एक पूरा चित्र नहीं पेश करते हैं तथा इस सच्चाई को ढक देते हैं कि अलग अलग सामाजिक समूहों के बीच मृत्युदर में कितना अधिक अन्तर है। यह काफ़ी समय से समझ लिया गया है कि शहरी क्षेत्रों की तुलना में मृत्यु दर ग्रामीण भारत में कहीं ऊँची है। हाल ही के भारत सरकार के एक अध्ययन में यह फ़र्क फिर से देखा गया है। शहरी दर की तुलना में ग्रामीण मृत्युदर दुगनी पाई गई (70 की तुलना में 136) यह भी स्पष्ट है कि विभिन्न सामाजिक आर्थिक वर्गों में मृत्यु दर भी बहुत अलग-अलग है। पूर्वचर्चित पोषण आँकड़ों से यह बात वैसे भी स्पष्ट हो जाती है। दुर्भाग्य से अधिकांश अध्ययनों में मृत्युदर को सामाजिक-आर्थिक वर्गों के परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा गया है यदि ऐसा हुआ भी है तो परोक्ष रूप में। कुछ प्रत्यक्ष रूप से किये गये अध्ययन हैं भी तो वे

छोटी जनसंख्या समूहों तक सीमित हैं तथा उनके वैज्ञानिक मूल्य का स्तर भी एक जैसा नहीं है। यद्यपि इन अध्ययनों से निश्चित रूप से सामान्य वक्तव्य देना तो असंभव है परन्तु ये महत्वपूर्ण ढर्रों की ओर इशारा करते हैं।

पिछले दशक में अप्रत्यक्ष रूप से अनेक अध्ययनों ने सामाजिक आर्थिक वर्गों के सन्दर्भ में बालमृत्यु दर आँकड़ें दिये हैं। अभी जिस सरकारी अध्ययन की चर्चा की थी उसमें भी अनेक मुद्दों के सन्दर्भ में बाल मृत्यु दर का अध्ययन किया गया था। जैसे एक मुद्दा जो विशेष रूप से परिवार की आय और जीवनस्तर की ओर इशारा करता है वह था 'घरेलू रोशनी का स्तर'। जिन ग्रामीण घरों में बिजली की रोशनी थी वहाँ बालमृत्यु दर 87 थी जबकि तेल का लैम्प इस्तेमाल करने वाले परिवारों में यह 163 थी। शायद इस अध्ययन की सबसे महत्वपूर्ण खोज यह थी कि, पीने के पानी के स्रोत, स्वास्थ्य सुविधाओं की उपलब्धि आदि सामुदायिक मुद्दों की तुलना में आर्थिक मुद्दों के आधार पर बाल मृत्यु की भविष्यवाणी अधिक स्पष्ट रूप से की जा सकती थी।

1978 ग्रामीण बाल मृत्यु दर (प्रति 1000 जन्म)

	मुद्दे	बाल मृत्यु दर
1.	**पीने के पानी के स्रोत**	
	नल	103
	कुआँ	137
	तालाब/नदी	105
2.	**चिकित्सा सुविधायें**	
	5 कि.मी. के भीतर (उपलब्ध)	102
	5 कि.मी. से अधिक (अनुपलब्ध)	136
3.	**रोशनी के स्रोत**	
	बिजली	87
	तेल का लैम्प	163

स्रोतः शिशु व बालमृत्यु सर्वेक्षण प्रधान रजिस्ट्रार कार्यालय गृहकार्य मंत्रालय नई दिल्ली

तमिलनाडू के एक विस्तृत अध्ययन में जाति परिप्रेक्ष्य में बालमृत्यु को परखा गया है। पारम्परिक खेतीहर जाति 'गाउण्डर' में मृत्युदर 159 थी जबकि हरिजन परिवारों में यह 266 थी। तदापि इस अध्ययन में भी सीधे तौर पर आर्थिक

दर्ज़े को नहीं समझा गया। वास्तव में क़रीब एक तिहाई "गाउण्डर" परिवार भूमिहीन मज़दूर हैं तथा पाँचवा भाग 1000 रुपये से कम आय में काम चलाते हैं। यदि यह मान कर चलें कि इन परिवारों में बालमृत्यु दर हरिजनों के बराबर ही है तो यह भी अन्दाज़ है कि बड़े भूमिपति 'गाउण्डर' परिवारों में मृत्यु दर लगभग 100 है, निम्न सामाजिक आर्थिक मज़दूर परिवारों से बहुत कम।

बैनर्जी ने अधिक प्रत्यक्ष रूप में इसी प्रकार के नमूने सामाजिक आर्थिक समूहों तथा मृत्यु दर के बीच ढूँढे हैं। अठारह भिन्न प्रान्तों के उन्नीस गाँवों में किये अध्ययन में बताया है कि ग़रीब भूमिहीन मज़दूर तथा हरिजन परिवारों में तुलनात्मक रूप से कम जन्म होने पर भी, चार या उससे अधिक बच्चों की मृत्यु वाले परिवारों का अनुपात क्रमशः 10 और 18% था जबकि भूमिपति परिवारों में यह 5% पाया गया। बैनर्जी ने आगे बताया कि जिन गाँवों में ऐसे परिवारों का अनुपात ज़्यादा है जिन्हें दिन में दो बार भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता उन्हीं गाँवों में भूमिहीन मज़दूरों और बच्चों की मृत्यु का अनुपात भी ज़्यादा है।

अन्य छोटे अध्ययन भी भिन्न सामाजिक आर्थिक समूहों के बीच बाल मृत्यु दर के अन्तर को दिखाते हैं। उदाहरण के लिये छठे दशक के बीच दिल्ली में एक सर्वेक्षण में पाया गया कि निर्धन परिवारों (चतुर्थ श्रेणी) में बाल मृत्यु दर 13.6% थी जबकि प्रथम और द्वितीय श्रेणी के परिवारों में यह क्रमशः 2.1% तथा 3.3% पाई गई। 1967-68 के लखनऊ के अध्ययन ने बताया कि 300 रुपये प्रति माह आमदनी वाले परिवारों की तुलना में जिन परिवारों की आय 75 रुपये से कम थी, वहाँ बाल मृत्यु साढ़े सात गुना अधिक पाई गई। अन्त में ग़रीबों के बीच भी विशेष समूहों में बालमृत्यु दर को देखना भी अपने आप में काफ़ी जानकारीप्रद हो सकता है।

हाल ही में दिल्ली में हुये एक अध्ययन से मालूम हुआ कि इमारतों के निर्माण के काम में लगी मज़दूर औरतों के शिशुओं की मृत्युदर 40% थी अर्थात इन औरतों के प्रति हज़ार बच्चों में से चार सौ मर जाते हैं।

तब अस्वस्थता तथा सामाजिक ढाँचों के विषय में हम क्या कह सकते हैं? इस प्रकार के अध्ययन हमें बताते हैं कि अस्वस्थता का सबसे अधिक दण्ड समाज के ख़ास वर्ग के लोग सबसे ज़्यादा भुगतते हैं। वे हैं ग़रीब और शायद सबसे ज़्यादा स्पष्ट रूप से ग़रीबों के बच्चे। इसका यह अर्थ नहीं है कि रोकी जा सकने वाली बीमारियों से होने वाली मृत्यु केवल ग़रीब मज़दूर परिवारों में ही होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग़ैर मज़दूर मध्यवर्गीय ग्रामीण परिवारों में भी काफ़ी संख्या में बालमृत्यु होती हैं। यह तो देश के शहरी और ग्रामीण

इलाकों में स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की संख्या व साधनों के बंटवारे के प्रतिकूल अनुपात से ही स्पष्ट हो जाता है परन्तु मृत्यु का अनुपात साफ़ तौर पर आमदनी से जुड़ा है और इस प्रकार से ग़रीबी और भूख से भी जुड़ा है। परिणामस्वरूप भूमिहीन तथा मज़दूर वर्ग के परिवारों में बच्चों की क्षति की दर नाटकीय रूप से बहुत अधिक है।

इसके अतिरिक्त यद्यपि विशिष्ट आँकड़े उपलब्ध नहीं है परन्तु संभावना यह है कि उच्च तथा निम्न सामाजिक आर्थिक वर्गों के बीच बालमृत्यु दर में अन्तर वास्तव में बढ़ रहा है। दूसरा महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि देश के 80% बच्चे ग्रामीण इलाकों में हैं तथा पिछले दस वर्षों में उनकी मृत्यु दर में कोई प्रत्यक्ष सुधार नहीं हुआ है। बाल मृत्यु दर 1970 में भी 136 थी जो 1978 में भी पाई गई जबकि शहरी इलाकों में यह दर गिर रही है। ग्रामीण इलाकों में चेचक का अन्त, जन्मदर से कुछ कमी साथ ही पीने के पानी की सुविधा तथा हरित क्रांति प्रसार की कार्रवाइयों जैसी सफलताओं के बावजूद ग्रामीण मृत्युदर पिछले एक दशक में स्थिर रही है।

यद्यपि शहरी उच्चवर्ग तथा मध्यमवर्ग को प्राप्त स्वास्थ्य सेवाएं लगातार बढ़ रही हैं, ग्रामीण निर्धनों में क़ायम ग़रीबी (बल्कि बढ़ती हुई) का प्रभाव शिशु व बाल मृत्यु दर की स्थिरता के रूप में दिखाई देता है। समाज में ज्यों ज्यों आमदनी में अन्तर बढ़ता है वैसे ही स्वास्थ्य स्तर के बीच खाई भी बढ़ती चली जाती है।

देश की आसानी से रोकी जा सकने वाली व्यर्थ की मृत्यु संख्या का दो तिहाई हिस्सा छोटे बच्चों की मृत्यु का होता है यह तथ्य उस ख़ास क्षेत्र पर रोशनी डालता है जिन्हें स्वास्थ्य सेवाओं को प्राथमिकता देनी चाहिये परन्तु यह भी उतना ही बड़ा सच है कि केवल स्वास्थ्य व्यवस्था इतनी भंयकर मृत्युदर समस्या को नहीं सुलझा सकती जबकि मुख्य मुद्दे ग़रीबी, कुपोषण तथा स्त्रियों बच्चों सहित ग़रीबों की मेहनत के शोषण से सम्बन्धित हैं। सांख्यिकी आँकड़े जो बात स्पष्ट रूप से दिखाते हैं वह यह है कि शोषण की सबसे अधिक मार ग़रीबों के छोटे बच्चों पर पड़ती है।

भाग - 3

स्वास्थ्य व्यवस्था को आकार देने वाली शक्तियां

अस्वस्थता की पुनर्व्याख्या

यह अध्ययन भारत में क़ायम रहने वाले अस्वस्थता के कारणों को समझने की कोशिश है। इस खोज में रक्कू की कहानी एक आवश्यक शुरूआत का बिन्दु रही क्योंकि इस स्त्री तथा अधिकांश ग्रामीण परिवारों के जीवन व उनकी सामाजिक सच्चाइयों को समझने की चेष्टा में अस्वस्थता की समस्या को चारों ओर घिरे बादल भी छँट गये। जो मुद्दे उसके परिवार के स्वास्थ्य की राह में बाधक हैं वो एकदम सामने आ गये।

रक्कू अपने बच्चे को नहीं बचा सकी क्योंकि वह ग़रीब है। उसकी ग़रीबी के कारण वह अपने बच्चों को पूरा पोषण तथा देखभाल करने में असमर्थ है इसका यह भी अर्थ है कि जब उसके कुपोषित बच्चे बीमार पड़ते हैं तो वह वर्तमान स्वास्थ्य व्यवस्था का प्रभावकारी इस्तेमाल भी नहीं कर पाती है। इसके भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ग़रीबी के कारण वह स्वास्थ्य सेवाओं में कोई ऐसे परिवर्तन लाने की ताक़त भी नहीं रखती जिनके कारण यह सेवाएं उसके परिवार की ज़रूरतों और इस प्रकार अधिकांश लोगों की ज़रूरत के योग्य बन सकें तथा उनकी पहुँच के दायरे में आ सके। परन्तु सर्वाधिक चिन्ता की बात यह है कि उसके पास उस शोषण कारी आर्थिक व्यवस्था का सामना करने की ताक़त भी नहीं है जो सबसे पहले उसके परिवार को भूखा और परनिर्भर बनाती है। इस प्रकार से ग़रीबी का सही अर्थ ताक़त की कमी है क्योंकि बीमारी, और पूरी खुराक न मिल पाना और जीवन के सभी साधनों का अभाव तो केवल लक्षण मात्र हैं।

क्या रक्कू केवल एक अकेली अभागी औरत है? साफी है कि नही। यह देश के ज़्यादातर भूमिहीन मज़दूर परिवारों थोड़ी भूमिवाले तथा अधिकांश असंगठित दिहाड़ी मज़दूरों का प्रतिनिधित्व करती है। वह निश्चित रूप से उन 48% परिवारों का प्रतिनिधित्व करती है जो वर्तमान में पर्याप्त पोषण स्तर नहीं पा रहे हैं और वे जो ग़रीबी की सीमा रेखा के नीचे जी रहे हैं। उसके बच्चे उन. 60% बच्चों में से हैं

जो पाँच वर्ष से कम आयु के हैं और जो इतने कुपोषित हैं कि उनके शरीर में किसी छूत का सामना करने की शक्ति नाम मात्र को है।

इसका यह अर्थ नहीं कि धनी परिवारों के लोग बीमार नहीं पड़ते परन्तु धनी परिवारों में तपेदिक जैसी बीमारी से मरने का खतरा, अल्पपोषित मज़दूर की तुलना में बहुत कम है। ऐसा अनेक कारणों से है— छूत लगने का कम खतरा, पर्याप्त पोषण के कारण शरीर में छूत से लड़ने की अधिक शक्ति, कम शारीरिक श्रम की आवश्यकता तथा बीमारी का पता जल्दी लगने व इलाज की कहीं अधिक सुविधाएं। एक अनुभव इसकी मिसाल है। कर्नाटक के एक ज़िले में सरकारी अस्पताल में जाने वाले तपेदिक के आधे से अधिक मरीज़ों को खाँसी की एक बेकार सी दवाई देकर भगा दिया गया।

अतः आश्चर्य नहीं है कि बीमारी का बुनियादी बोझ समाप्त के एक ख़ास वर्ग के लोगों पर पड़ता है जिनके शरीर अपर्याप्त भोजन व अधिक मेहनत के कारण कमज़ोर पड़ चुके हैं और इसलिये बड़ी आसानी से किसी भी छूत का शिकार हो जाते हैं साथ ही यह एक ऐसा वर्ग है जिसे बीमारी से बचाव वाली सेवाओं की तो बात ही क्या, बीमारी में भी पूरा इलाज नहीं मिलता।

जब हम अस्वस्थता की बात करते हैं तो इसी का हवाला दे रहे होते हैं। और जैसा कि हमने पहले भी देखा कि जिन कुछ अध्ययनों ने स्वास्थ्य आँकड़ों को सामाजिक आर्थिक परिप्रेक्ष्य में देखा है वे निम्न सामाजिक आर्थिक वर्गों में अधिक कुपोषण या ऊँची मृत्युदर का चित्र दर्शाते हैं चाहे वे शहरी हों या ग्रामीण। अतः अस्वस्थता की सामाजिक आधार पर दोबारा व्याख्या की जा सकती है और की जानी चाहिये। वास्तव में समाज में 'नितान्त निर्धन' वर्ग अथवा समूह की यही स्थिति है।

जब हम रक्कू की ग़रीबी की चर्चा करते हैं तो साथ ही हमें उसके मूल पर भी दृष्टि डालनी आवश्यक है। हमने इस स्त्रोत को शोषण कहा है परन्तु वास्तव में इस शब्द का अर्थ क्या है? रक्कू के उदाहरण में इसका अर्थ है कि — वह अपनी मेहनत से अनाज उगाती है जो बड़ी मात्रा में दूसरों का पेट भरने के लिये ले लिया जाता है जबकि उसका अपना परिवार भूखे पेट रहता है। ईंट भट्टे पर काम करने वाली रक्कू की ईंटे ढोती है जिससे लोगों के घरों की दीवारें बनती हैं और उसकी मेहनत के बदले जो मज़दूरी मिलती है उससे वह अपने परिवार के सिर पर छत देने के लिये थोड़ी सी ईंटें भी नहीं खरीद सकती। सड़क बनाने वाली रक्कू जो सड़क बनाती है उस पर वे गाड़ियाँ चलती हैं जिन्हें वह शायद ही कभी इस्तेमाल करेगी और इनकी मालिक कभी भी न हो पायेगी। जो कपास और रेशम यह पैदा

करती है और बुनती है वह उसका नहीं दूसरों का तन ढकता है चूंकि वह इतनी ग़रीब है और उसी की तरह ग़रीब भूमिहीन मज़दूर वर्ग की सदस्या है, अपने बच्चों का नहीं स्वयं अपना पेट भरने लायक मज़दूरी के लिये ज़ोर मेहनत के बदले उसे जो हिस्सा मिलता है वह उसे सिर्फ़ इतनी ताक़त भर दे पाता है कि वह और मज़दूरी कर सके, और बच्चे पैदा कर सके और आगे चल कर मज़दूरी करने के लिए उसकी जगह ले लेगें। उसकी मेहनत का बाकी मूल्य उन लोगों का पेट भरने के लिये छीन लिया जाता है जिनके हाथ कभी मिट्टी से मैले नहीं हुये ।साधारण शब्दों में शोषण का अर्थ है एक आदमी की मेहनत की कमाई दूसरे हड़प लें। उसके अतिरिक्त यह वर्तमान ढाँचा और उसके जुड़ी मान्यताओं के कारण ही, न सिर्फ़ यह शोषण होता है बल्कि देश के भोजन का अनुचित बंटवारा, यहाँ तक कि डाक्टरों और तपेदिक की गोलियों का अनुचित बंटवारा भी होता है। अतः अस्वस्थता का अर्थ 'शोषित होना' भी है तथा इस अर्थ में इसकी पुनर्व्याख्या अपने आप में एक समस्या के रूप में नहीं बल्कि गहरे सामाजिक आर्थिक अन्याय के लक्षण के रूप में होनी चाहिये।

भारत अपने सभी देशवासियों की पोषण आवश्यकताएं पूरी करने लायक अनाज उपजा सकता है। वास्तव में वर्तमान में देश कुछ अनाज व नक़दी फ़सलें निर्यात भी कर रहा है वरना उस ज़मीन पर लोगों के लिये अनाज उगाया जा सकता था। देश में प्रति व्यक्ति चिकित्सा योग्यताएं अनेक तृतीय विश्व देशों से बेहतर हैं जिसमें कुछ ऐसे देश भी शामिल हैं जो चिकित्सा सहित अन्य सामाजिक साधनों का अनुकूल पुनर्वितरण करके स्वास्थ्य दर्ज़े में औद्योगिक देशों की बराबरी कर रहे हैं। यह जानते हुये कि यदि साधनों, ख़ासतौर पर भोजन का अधिक न्यायपूर्ण वितरण हो तो प्रतिवर्ष होने वाली पचास लाख बालमृत्यु में से चालीस लाख तक रोकी जा सकती हैं तो हम अस्वस्थता को समाज में संस्थागत हिंसा के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।

वर्तमान सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के नियम व उसकी मान्यताएं जिनके कारण साधनों का अन्यायी बंटवारा होता है वास्तव में वे ढाँचे हैं जिनके द्वारा यह दर्दनाक हिंसा, संस्था का रूप लेती है और की जाती है। प्रतिवर्ष इतने अधिक बच्चों की व्यर्थ मौतें केवल इन नियमों की बाहरी अभिव्यक्ति है। ठीक इसी प्रकार देश में अशिक्षा की सच्चाइयों को भी देखा जा सकता है। वर्तमान नियम व शक्तियाँ जो स्वास्थ्य साधनों का नियंत्रण करती है यह भी तय करती है कि शिक्षा के राष्ट्रीय बजट का 50% ऊँची शिक्षा पर ख़र्च हो जिसका लाभ केवल मुट्ठी भर लोगों को मिलता है जबकि 64% लोग अनपढ़ रहते हैं।

वास्तव में वर्तमान सामाजिक व्यवस्था ने इसी तरीके से 'अशिक्षा की हिंसा' को भी संस्थागत रूप दे दिया है। अधिकांश, सामाजिक समस्याओं की व्याख्या इसी तरह की जा सकती है।

देखना यह है कि देश में ग्रामीण स्वास्थ्य व्यवस्था की वर्तमान नीति किस प्रकार से अस्वस्थता की इस भिन्न व्याख्या के साथ मेल बैठाती है। आने वाले अध्याय में हम कुस्वास्थ्य के गहरे अर्थ के परिप्रेक्ष्य में कुछ ऐसी परिकल्पनाओं को परखेगें जैसे ''बुनियादी स्वास्थ्य आवश्यकताओं की पूर्ति'' तथा ''वैकल्पिक स्वास्थ्य व्यवस्था'' ऐसा करने में हम पायेंगे कि देश के अधिकांश स्वास्थ्य सेवा प्रयत्नों में छिपी किताबी मान्यतायें ही वर्तमान स्वास्थ्य सेवा को वैधता प्रदान करती हैं और इस प्रकार से अस्वस्थता जैसी की तैसी बनी रहती है। ऐसा किस प्रकार होता है यह समझना आवश्यक है।

भाग - 4

स्वास्थ्य बदलाव के लिए राजनीतिक कार्रवाई

केरलः एक आरम्भ

देश के बाईस राज्यों में से एक राज्य लोगों की स्वास्थ्य स्थिति में पर्याप्त सुधार ला पाने के लिये अपने आपमें एक मिसाल है। केरल में आये स्वास्थ्य बदलाव इतने महत्वपूर्ण हैं कि ये कैसे और क्यों हुए इनके बारे में जाने बिना भारत का कोई भी स्वास्थ्य विश्लेषण पूरा नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये 1971 में केरल में बाल मृत्यु दर 55 (प्रति 1000 जीवित जन्म पर) थी जो पूरे भारत की औसत दर से आधी से भी कम थी। केरल में जन्म दर में भी काफ़ी कमी आई है और रोचक बात यह है कि देश के अन्य प्रान्तों की तुलना में ग़रीब तथा औद्योगिक रूप से कम विकसित प्रान्त होने के बावजूद केरल में ये बदलाव आये हैं। यह सही है कि अभी भी स्वास्थ्य स्तर में सुधार के लिये काफ़ी जगह है। फिर भी वे जो कुछ हासिल कर चुके हैं उसकी चर्चा होनी चाहिये।

केरल के स्वास्थ्य व जन्म दर के सन्दर्भ में रैटक्लिफ ने कहा है 'केरल दक्षिण भारत में छोटा सा, घना बसा हुआ प्रान्त है। इसकी प्रति व्यक्ति औसत आय 80 अमरीकी डॉलर है जो भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय 120 अमरीकी डॉलर से काफ़ी कम है तथा प्रति व्यक्ति कैलोरी उपभोग के क्षेत्र में भी यह प्रान्त भारत में सबसे निचले स्तर पर है। फिर भी केरल जनसंख्या के आधार पर अधिक से कम की ओर आया है यहाँ जन्म दर में कमी आई है। भारत का अन्य कोई राज्य यह उपलब्धि नहीं कर पाया। केरल के सामाजिक विकास के अन्य सूचक भी उतने ही आश्चर्यजनक हैं। यहाँ साक्षरता, स्तर आयु सम्भावना, स्त्री शिक्षा तथा विवाह की आयु भारत में सबसे अधिक है जबकि शिशु तथा बाल मृत्यु दर सहित कुल मृत्युदर भारतीय प्रान्तों में सबसे कम है।

किस प्रकार से केरल अन्य प्रान्तों से भिन्न है जिसकी वजह से यहाँ स्वास्थ्य स्तर में ये परिवर्तन आ पाये? यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य सुधार के लिये उत्तरदायी मुद्दे और सामाजिक हालात अधिक पुराने नहीं है। 1951 से 1960 के दशक

में ही बालमृत्यु दर में तेज़ी से गिरावट आई। इसी समय के दौरान केरल में ऐसा क्या हो रहा था जो बाकी देश में नहीं हो रहा था या कम से कम उतनी मात्रा में नहीं हो रहा था। इस अध्याय में इन परिवर्तनों के स्पष्टीकरण के लिये एक परिकल्पना प्रस्तुत की जा रही है। हमारी इस कोशिश में हम सामाजिक विश्लेषण कर्ताओं के अनेक लेखों की चर्चा करेंगें जिन्होंने स्वास्थ्य परिवर्तनों के पीछे काम कर रही शक्तियों की व्याख्या की है, साथ ही विस्तृत पृष्ठभूमि देने वाले दस्तावेज़ 'ग़रीबी, बेकारी तथा विकास नीति का हवाला भी देंगें।

सबसे पहली बात तो यह कि केरल की बेहतर स्वास्थ्य स्थिति केवल चिकित्सा या स्वास्थ्य सुविधाओं की अधिक संख्या की वजह से नहीं है जैसा कि पनिकर ने लिखा है "ऊँची मृत्युदर वाले अनेक राज्यों में जनसंख्या के अनुपात के अनुसार केरल से अधिक डॉक्टर, अस्पताली बिस्तर आदि हैं।" उदाहरण के लिये केरल में डॉक्टर जनसंख्या अनुपात 1:4742 है जबकि रक्कू के प्रान्त, पड़ोसी तमिलनाडू में यह 1:1988 है। उसी प्रकार अनेक राज्यों में प्रति व्यक्ति जनस्वास्थ्य व चिकित्सा व्यय केरल से कहीं अधिक है। पर यदि चिकित्सा व्यय सुधार के लिये ज़िम्मेदार नहीं है तो फिर क्या है?

पहले तो यह जानना महत्वपूर्ण है कि एक दूसरे से जुड़कर विभिन्न सामाजिक स्वास्थ्य तथा जनसंख्या सम्बन्धी परिवर्तन कब से आरंभ हुये अर्थात केरल के स्वास्थ्य बदलावों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाये।

गुलाटी ने साक्षरता, औरतों की विवाह आयु तथा जन्म व मृत्यु दर के क्षेत्र में इस सदी में आये बदलावों का सारांश दिया है। उसके आँकड़ों से पता चलता है कि इस शताब्दी के आरंभ में भी केरल में बाकी देश के मुकाबले लड़कियों की विवाह की आयु ऊँची थी फिर भी बाल मृत्यु दर 1950 से पहले नहीं गिरी थी। इसके अलावा यह गिरावट तभी आनी शुरू हो गई थी जबकि साक्षरता दर केवल 40% थी। जन्मदर में महत्वपूर्ण गिरावट क़रीब दस वर्ष बाद 1960 से शुरू हुई।

केरल की सुधरी हुई स्वास्थ्य स्थिति के सम्बन्ध में अनेक स्पष्टीकरण दिये गये हैं। इसका आम कारण शिक्षा को बताया जाता है अर्थात् साक्षरता ने आधुनिक स्वास्थ्य देखभाल के महत्व के प्रति जागरूकता बढ़ाई फिर भी शिक्षा अपने आप में पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं है क्योंकि ऐसे कई राज्य हैं जहाँ आज भी बालमृत्यु दर अधिक है जबकि उनकी साक्षरता दर केरल के उस स्तर तक पहुँच चुकी है (38) जबसे उनके यहाँ बालमृत्यु दर घटने लगी थी। साथ ही उदाहरण के

लिए यह मानना मुश्किल है कि केरल की वर्तमान साक्षरता दर (69%) तथा तमिलनाडू की (46%) साक्षरता दर के अन्तर के कारण ही दोनों राज्यों की बालमृत्यु में इतना अधिक अन्तर है। तमिलनाडू में बालमृत्यु दर केरल से दुगुनी है।

जो बात केरल को बाकी भारत से अलग सिद्ध करती है वह है इस सदी के आरंभ में वहाँ हुये सामाजिक, राजनीतिक विकास। ऐसे बदलाव जिनके माध्यम से वहाँ अनेक भूमिहीन मज़दूरों और पट्टेदारों ने अपने आपको संगठित करना शुरू किया। 1930 तक खेतिहर किसानों-मजदूरों की बिगड़ती हालत ने खेती की परिस्थितियों में बदलाव की माँग करने वाले जन आन्दोलन का रूप ले लिया था। जोस ने इन राजनीतिक आन्दोलनों के बारे में बताया है। उसने स्पष्ट रूप से लिखा है कि किस प्रकार से खेती के पूंजीवादी तरीकों को अपनाने के कारण छोटे किसानों के लिये रोज़गार सीमित हो गया तथा वे अपनी ज़मीनें छोड़ने के लिये बाध्य हो गये। इसके जवाब में मज़दूर जनसंख्या ने एक जुट होकर अपनी मज़बूत खेतिहर यूनियन बनाई। इस प्रकार से बढ़ती राजनीतिक जागरूकता व शक्ति के कारण अंत में 1957 के चुनाव में वह प्रान्तीय सरकार सत्ता में आई (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी) जो केन्द्र द्वारा सुझाये गये मूलभूत भूमि सुधारों को लागू करने के लिये प्रतिबद्ध थी। इसके बावजूद वहाँ जन दबाव की गति ही नीतियों की दिशा तय करती रही है। भूमि सुधारों के अलावा पाँचवे दशक के अंत से खेतिहर मज़दूर, न्यूनतम मज़दूरी व उसकी बढ़ोत्तरी, बालश्रम कानून (जो अन्य प्रान्तों में नज़रअन्दाज़ किये जाते रहे हैं।) आदि के लागू किये जाने पर ज़ोर देते रहे हैं। सुधारों के अन्तर्गत दिहाड़ी मज़दूरों की सुरक्षा, उनके कल्याण, पैंशन आदि को भी जगह मिली है। इस लोकप्रिय जन आन्दोलन की ताक़त ने नीति निर्णयों को भी प्रभावित किया जिससे बड़े स्तर पर जनता के शिक्षा कोष का फिर से बंटवारा हुआ। उदाहरण के लिये 1970-71 में केरल में 63% शिक्षा व्यय प्राथमिक स्कूलों के लिये किया गया तथा प्राथमिक तथा माध्यमिक दोनों को मिला कर यह ख़र्च 86% था। इसके परिणाम स्वरूप किशोर निरक्षरता (5 से 15 वर्ष) को प्रभावकारी ढंग से समाप्त कर दिया गया था वयस्क व बूढ़ों के लिये कामचलाऊ साक्षरता भी तेज़ गति से बढ़ रही है। इसकी तुलना में सम्पूर्ण देश का आधे से अधिक शिक्षा बजट ऊँची शिक्षा पर ख़र्च किया जाता रहा है और प्राथमिक शिक्षा को केवल 29% धन मिला है।

इसी प्रकार से नई सरकार ने प्रान्त के ग्रामीण तथा शहरी सभी इलाकों में उचित मूल्य दुकानों के माध्यम से भोजन पुनर्वितरण के लिये भी प्रतिबद्धता दिखाई। इस प्रकार से अनाज नियंत्रित दामों पर सबको बराबर से मुहैया कराया

गया। एक बड़ी रोचक बात यह है कि केरल प्रतिव्यक्ति न्यूनतम कैलोरी उपभोग वाला प्रान्त होने के बावजूद, वहाँ बच्चों में कुपोषण के उदाहरण सबसे कम हैं। इसी प्रकार सरकार ने प्राथमिक स्वास्थ्य कल्याण तथा ग्रामीण क्षेत्रों में इन सेवाओं के प्रसार को सर्वाधिक महत्व दिया है। फिर भी जैसा कि हमने देखा है केवल अस्पताली बिस्तरों, डॉक्टरों की संख्या तथा स्वास्थ्य व्यय बाकी देश की तुलना में बेहतर स्वास्थ्य का स्पष्टीकरण नहीं हो सकते। फिर भी केरल में अन्य प्रान्तों से जो भिन्नता दिखाई देती है वह यहाँ के लोगों द्वारा स्वास्थ्य सुविधाओं का अधिक उपयोग है।

क्या कारण है कि केरल के लोग स्वास्थ्य सेवाओं का अधिक उपयोग कर पाते हैं? ऊँची मज़दूरी तथा कुछ सीमा तक नौकरी की सुरक्षा स्वास्थ्य सेवाएं पाने के रास्ते की आर्थिक अड़चनों को कुछ कम कर देती हैं। परन्तु कामगार परिवारों में राजनीतिकरण का स्तर तथा उससे उत्पन्न नीचे से ऊपर की ओर दबाव, जो जनसेवाओं के लेखेजोखे पर ज़ोर देता है, निश्चित रूप से एक मुख्य मुद्दा है। जैसा कि केरल के एक व्यक्ति ने समझाया "यदि स्वास्थ्य केन्द्र का डॉक्टर ठीक देखभाल नहीं करता तो अब यह सम्भावना अधिक है कि लोग स्थानीय अधिकारियों से शिकायत कर स्थानीय अखबार को पत्र लिख कर या फिर सीधे डॉक्टर से बात कर के अपनी नाराज़गी ज़ाहिर करेंगें। चाहे इस स्तर की व्यक्तिगत अधिकारों की समझ प्रत्येक केरलवासी में न हो परन्तु यह तथ्य कि इस तरह का दृष्टिकोण मौजूद है, पड़ौसी राज्य तमिलनाडू की तुलना में यही काफ़ी विशेष बात है। केरल तथा तमिलनाडू की ग्रामीण स्वास्थ्य सेवाओं के तुलनात्मक अध्ययन में मैन्चर ने इसी प्रकार का निष्कर्ष दिया है।" 'दोनो प्रान्तो के बीच इस फर्क़ का जो मुख्य कारण मैं समझ पाता हूँ वह है राजनीतिक जागरूकता। केरल में यदि किसी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र पर कुछ दिन कोई डाक्टर न आये तो स्थानीय वामपंथी पास के ज़िला अधिकारी के यहाँ भारी प्रदर्शन करेगें तथा अपने हक़ दिये जाने की माँग करेगें। केरल के ग़रीबों को स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराने में इस जागरूकता का बड़ा हाथ रहा है।

तथापि क्या यह संभव है कि केवल अस्पताली सुविधाओं का अधिक उपयोग ही बालमृत्यु दर की गिरावट का कारण हो अथवा कम से कम एक महत्वपूर्ण मुद्दा हो? शायद नहीं। क्योंकि केवल उपयोग दर से छोटे बच्चों में अल्पपोषण के नीचे स्तर का पूरा स्पष्टीकरण नहीं मिलता तथा अनेक केरलवासियों ने जन स्वास्थ्य सेवाओं की खामियों की ओर इशारा किया है। साथ ही सेवाओं के ऊपरी वर्ग में ख़ासतौर पर अस्पताल की सेवाओं में विशिष्टवाद तथा भ्रष्टाचार

अब भी मौजूद है, यद्यपि ऐसा नहीं कि इसका विरोध न होता हो। दूसरी तरफ रोज़गार सुरक्षा में थोड़े से सुधार से भी लोग अपने छोटे बच्चों की बेहतर देखभाल कर पाते हैं और उन्हें बच्चों की बीमारी के दौरान उनकी आवश्यकताओं की तरफ ध्यान दे पाने की थोड़ी सी परन्तु बहुत महत्वपूर्ण आज़ादी मिल जाती है। इसी प्रकार से अधिकारों के प्रति बढ़ती उनकी चेतना तथा इन अधिकारों को पाने की सामूहिक शक्ति के कारण अब वे विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों के फ़ायदे उठाने की स्थिति में हैं चाहे वे स्वास्थ्य सेवाएं हों, उचित मूल्य की दुकानें अथवा शिक्षा सुविधाएं, जो कम से कम अप्रत्यक्ष रूप से उनकी आर्थिक स्थिति को व सामान्य जीवन स्तर को सुधारने के लिये उत्तरदायी है। यह रक्कू के सोचने के ढंग से बिल्कुल विपरीत है। रक्कू अपने इलाके के ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्र की सेवाएं नहीं लेना चाहती थी क्योंकि वह ऐसी सेवाओं की खातिर अपनी एक दिन की मज़दूरी खोने और कर्ज़ का बोझ बढ़ाने का खतरा नहीं ले सकती थी, जिनके बारे में उसे यह यकीन भी नहीं था कि वे सेवाएं उसे मिल भी पायेंगी या नहीं।

वर्तमान संगठनों के हाल के अध्ययन में एलक्ज़ैण्डर ने पाया कि तमिलनाडू और कर्नाटक के ठीक विपरीत केरल में पारम्परिक मूल्यों, विचारधाराओं और उनसे सम्बन्धित रिवाज़ों को ठुकराया गया है। पालघाट में छुआछूत या जाति चिह्न जैसे आम रिवाज़ शायद ही नज़र आते हैं। मज़दूरों द्वारा भूमिपतियों के लिये परम आदर सूचक सम्बोधन भी अब धीरे-धीरे खत्म हो रहे हैं। मज़दूर आबादी के सोच में इस तरह के बदलाव से प्रान्त में मज़दूर व भूमिपति सम्बन्धों में परिवर्तन और राजनीतिक ताकत के स्थानान्तरण की झलक मिलती है। प्रायः इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि केरल की सफलता अधिक संसाधनों के कारण नहीं बल्कि मौजूदा संसाधनों, वस्तुओं और सेवाओं के समानतापूर्ण बंटवारे की वजह से है। परन्तु बंटवारा भी अपने आप में पूरा स्पष्टीकरण नहीं है क्योंकि पुनर्वितरण की नीतियों को बनाना व लागू करना कोई संयोगमात्र नहीं था और न ही एकाएक राजनीतिक मंच पर कुछ विशेष जागरूक नेताओं के आ जाने से हुआ बल्कि यह तो ग़रीब मज़दूरों की राजनीतिक जागरूकता के कारण हुआ और जैसा कि जोस ने लिखा है कि यह जागरूकता खेती उत्पादन के सम्बन्धों में मूलभूत परिवर्तनों के कारण पैदा हुई। लम्बे समय तक चलने वाला तथा मज़बूत संगठन ही ग़रीब ग्रामीणों के दबाव का आधार था। यह एक ऐसी प्रक्रिया थी जो 1930-1940 के बीच तेज़ी पर आई तथा आज तक जारी है। अन्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पुनर्वितरण की नीतियों के लिये

उत्तरदायी ताक़त बुनियादी रूप से ऊपर से नहीं बल्कि नीचे से आई। इस प्रकार के संगठन ने ग़रीबों के बीच ऐसी सामूहिक जागरूकता पैदा कर दी है कि वे उचित व्यवहार की आशा करते हैं, उसकी माँग करते हैं और साथ ही जो बुनियादी सेवाएं उपलब्ध होती हैं उनका पूरा इस्तेमाल करने की जागरूकता भी आई है। दूसरे शब्दों में विशेष कार्यक्रमों के संभावित मूल्य को मोटे तौर पर पा लिया गया है और निश्चित रूप से उसका कारण लोगों का राजनीतिकरण है। जैसा कि मैन्चर का तर्क है "कि लोग अब ज्यादा जीते हैं या बाल मत्यु कम हो गई इसका कारण लोगों के राजनीतिकरण से उतना ही जुड़ा है जितना कि जन नीतियों से।" इस प्रकार की परिकल्पना हर चीज़ को प्रयोग द्वारा मापने वाले तरीकों के लिये खरी न उतरे परन्तु राजनीतिकरण का महत्व बिल्कुल साफ़ तौर पर देखा जा सकता है।

केरल के स्वास्थ्य हालात में आये बदलावों के इस व्यापक अवलोकन के अन्तर्गत इस प्रान्त में हुये जन्मदर में परिवर्तन पर बहुत कम ज़ोर दिया गया है। ऐसा कुछ तो इस कारण हुआ है कि यह विश्लेषण स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखता है तथा इस बात के बहुत कम प्रमाण है कि केवल जन्मदर में कमी होने से व्यक्तिगत मज़दूर परिवारों के बच्चों की सेहत में सुधार होता है। ऐसा इसलिये भी हुआ है क्योंकि देश भर में जनसंख्या नियंत्रण के सन्दर्भ में केरल एक उदाहरण के रूप में माना जाता है तथा वहाँ जन्मदर में हुई कमी के बारे में पहले ही काफ़ी ध्यान दिया जा चुका है। हालांकि जो कुछ लिखा गया है उसमें से बहुत कुछ बड़े सरसरी तौर पर किये गये विश्लेषण पर आधारित है। केरल विकास का एक सस्ता उदाहरण बन गया है, सस्ते से तात्पर्य है कि यहाँ राजनीतिक आर्थिक ढाँचों को बदले बिना ही जनसंख्या विस्फोट की समस्या को सुलझा लिया गया है।

केरल को विकास उदाहरण का दर्ज़ा देने में क्या कमियाँ हैं उन्हें समझने के लिये ज़रूरी है कि वहाँ जन्मदर गिरने के कारणों को जाना जाये। परन्तु उसके पहले कुछ बातें बतानी आवश्यक हैं। पहली तो यह कि केरल में जन्मदर में गिरावट छठे दशक के शुरू में यानि देश में परिवार नियोजन कार्यक्रम के ज़ोर पकड़ने से पहले आई। नायर का कहना है कि जन्मदर में गिरावट सरकारी प्रयत्नों की वजह से नहीं बल्कि कुछ व्यापक सामंजस्य के जवाब के रूप में हुई। 1960 में केरल परिवार नियोजन विभाग द्वारा स्वीकृत जन्मदर के अनुसार पाँचवे नम्बर पर था।

दूसरी ओर इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रान्त में बाल उत्तरजीविता के क्षेत्र में

जन्मदर में गिरावट का काफ़ी बड़ा हाथ रहा है। फिर भी बेहतर बाल स्वास्थ्य अपने आप में पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं है शायद उतना ही महत्वपूर्ण कारण है कि अब मज़दूर परिवारों के लिये बच्चों की आर्थिक उपयोगिता कम हो रही है। केरल में अब परिवार छोटे होते जा रहे हैं। आंशिक तौर पर यह प्रान्त में अत्यधिक बेकारी के कारण भी है इसके साथ ही कुछ अन्य मुद्दे भी हैं जो बच्चों की उपयोगिता कम कर रहे हैं। उदाहरण के लिये शोषणकारी सम्बन्धों के कड़े विरोध के कारण प्रान्त में बाल श्रम कानूनों को प्रभावकारी ढंग से लागू किया जा रहा है।

यह स्पष्ट है कि केरल में जन्मदर में गिरावट के कारण बहुत पेचीदा हैं परन्तु केरल विकास के क्षेत्र में एक उदाहरण है। इसके लिये सुझाव सरल है बशर्ते विकास से हमारा तात्पर्य सामाजिक ग़रीबी में कमी (उत्पादक शक्तियों में बढ़ोत्तरी) के साथ लोकतंत्र व शोषणरहित सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों से है। केरल में साक्षरता, व स्वास्थ्य के साथ स्वतंत्रता तथा मानवीय सम्मान की भावना के क्षेत्र में हुआ पर्याप्त सुधार वास्तविक है तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण भी, फिर भी गरीबी बढ़ रही है, बेकारी बढ़ रही है। वैसे कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये क्योंकि पुनर्वितरण की नीतियों भर से चाहे वे कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न हो सामाजिक ग़रीबी दूर नहीं हो सकती। आर्थिक विकास के लिये ज़रूरी है कि पूरे प्रान्त की उत्पादक शक्तियों को बढ़ाने के लिये बड़े स्तर पर, योजनाबद्ध तरीके से अतिरिक्त धन को फिर से पूँजी में लगा दिया जाये। चूंकि अब तक भूमि सुधार काफ़ी सीमित रहे हैं (इन सुधारों का प्रान्त के भीतर और बाहर प्रतिरोध हुआ) अतिरिक्त कृषि मूल्य प्रायः व्यक्तिगत उपभोग में लगा दिया जाता है जिसका उत्पादकता मूल्य बहुत कम है। इसके साथ ही व्यक्तिगत पूँजी सस्ते और असंगठित श्रम की खोज में राज्य के बाहर चली जाती है इस दुर्दशा की स्थिति से पता लगता है कि यदि पूरे देश के भीतर सिर्फ़ एक राज्य अपनी राजनीतिक अर्थव्यवस्था को पूरी तरह बदलना चाहे तो क्या क्या रुकावटें आती हैं। अपने प्रान्त को पूर्णतः समतावादी तथा आर्थिक रूप से विकसित करने के लिये केरल की जनता को अभी बहुत लम्बा सफ़र तय करना है। एक ऐसा संघर्ष जिसे अन्ततः देश के बाकी हिस्सों में भी इसी प्रकार के राजनीतिक परिवर्तनों से कड़ी जोड़नी होगी परन्तु बाकी पूरे देश की अस्वस्थता की स्थिति को समझने के इस अध्ययन के उद्देश्य के लिये केरल के सामाजिक परिवर्तनों का निश्चय ही बहुत महत्व है। इससे यह सुझाव मिलता है कि अपने अन्तिम विश्लेषण में स्वास्थ्य स्थिति का सम्बन्धी विशेष स्वास्थ्य चिकित्सा तकनीकों से इतना नहीं

जितना कि बढ़ती राजनीतिक जागरूकता और संगठन से है।

इस किताब के अन्तिम अध्याय में एक राजनीतिक चौखटे के भीतर अस्वस्थता का अर्थ और उसके स्रोत समझने तथा "स्वास्थ्य के लिये राजनीतिक कार्यवाई" के अर्थ को परिभाषित करने की कोशिश है।

कार्रवाई के लिए आवश्यक केन्द्र बिन्दु

यह कहना आसान है कि स्वास्थ्य एक राजनीतिक मुद्दा है इसलिये जब तक पूरे समाज में मूलभूत ढाँचाई बदलाव नहीं होते तब तक कोई ख़ास तरक्की नहीं हो सकती। व्यावहारिक ढंग से कहें तो उस व्यक्ति के लिये इसका क्या अर्थ है जो सामाजिक रूप से जागरूक है जो अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण अस्वस्थता तथा स्वास्थ्य कल्याण के मुद्दों से जुड़ती है। यह अन्तिम अध्याय अस्वस्थता की सैद्धान्तिकता का व्यावहारिक रूप पेश करता है। यह कार्रवाई के लिये कोई नुस्खा नहीं बल्कि मोटे तौर पर, यह विचार करता है कि किस प्रकार से अस्वस्थता के मुद्दे का इस्तेमाल स्वास्थ्य तथा सामाजिक न्याय के राष्ट्रीय संघर्ष में योगदान देने के लिये किया जा सकता है।

1. सामाजिक कार्रबाई : व्यक्तिगत जुड़ाव

इससे पहले हमने बच्चों और वयस्कों में अस्वस्थता तथा मृत्यु के कुछ मुख्य कारण देखे। हमने देखा कि कुल पाँच या छः बीमारियाँ ही देश की अधिकांश व्यर्थ मृत्यु की वजह हैं तथा डाक्टरी नज़रिये से ये बीमारियाँ या तो पहले ही रोकी जा सकती हैं या फिर गाँव के स्तर पर भी बड़ी आसानी से इनका इलाज हो सकता है। परन्तु हमने यह भी देखा कि किस प्रकार से अत्यन्त सुनियोजित स्वास्थ्य कार्यक्रम भी बच्चों व बड़ों में कुपोषण, मज़दूर औरतों के काम के हालात के कारण बच्चों की देखभाल में कमी, आवश्यकता होने पर बुनियादी इलाज सुविधाओं का न मिलना जैसे मुद्दों पर सफलता नहीं पा सकते। दूसरे शब्दों में कहें तो ये कार्यक्रम भी ग़रीबी की वजह से सीमित रह जाते हैं और ग़रीबी क्यों है, उसके कारण भी समाज व्यवस्था के भीतर ही हैं। तब स्वास्थ्य कार्यकर्ता को एक कठिन परन्तु ज़रूरी सवाल का सामना करना पड़ता है। क्या वह सिर्फ़ स्वास्थ्य कल्याण सेवाएं प्रदान करने से ही वास्ता रखे या फिर दूसरी

तरफ समाज के विभिन्न वर्गों के बीच वैकल्पिक शक्ति सम्बन्ध बनाने के स्तर पर भी कार्यशील हो।

सबसे पहले तो व्यक्तिगत स्तर पर निर्णय की चर्चा करें। समस्या की जड़ तक पहुँच कर काम करने के लिये सबसे ज़रूरी है कि विश्लेषणात्मक तथा प्रश्नात्मक मस्तिष्क विकसित किया जाये। सोचने का एक ऐसा ढंग विकसित किया जाये जो समस्याओं की तह तक जा कर देखे तथा समाज के भीतर उन समस्याओं के साथ स्वयं अपने रिश्तों की जाँच करे। इस प्रकार के सोच से व्यक्ति सामाजिक न्याय और अस्वस्थता की वर्तमान गूढ़ता से असन्तुष्ट रहेगा उदाहरण के लिये यह कहना कि ग़रीबी एक ''अत्यन्त अड़ियल बीमारी'' है। सोचने का विश्लेषणात्मक ढंग गहरी महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं के अस्पष्ट सा बनाने वाले उदारवादी सोच को स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि वे ग़रीबी को यों प्रस्तुत करते हैं मानों वह आसमान से टपकी हो। मनुष्य को उन साफ़ दिखाई देने वाले सामाजिक सम्बन्धों को और आर्थिक ताक़तों को ढूँढना चाहिये जो ग़रीबी को पैदा करते हैं और इस प्रकार से ग़रीबी शब्द को मनुष्य द्वारा बनाये गये हालात के रूप में फिर से समझना और परिभाषित करना चाहिये।

रक्कू के उदाहरण में इस प्रकार के विश्लेषणात्मक सोच के कारण, उसके बच्चे की मृत्यु को सही ढंग से समझा जा सकता है। शायद रक्कू अब भी अज्ञानता और अंधविश्वासों में डूबी हो परन्तु वे उसके बच्चे की मृत्यु के असली कारण नहीं है और न ही अस्पताल में काम की अधिकता। उसका बच्चा इसलिये मरा क्योंकि वह ग़रीब है और नितान्त ग़रीब है क्योंकि उसका सम्पूर्ण अस्तित्व समाज के उस आर्थिक-राजनीतिक ढाँचे से बंधा है जो उसकी और उसके परिवार की मेहनत का शोषण करता है।

इस प्रकार का समीक्षात्मक सोच एक ऐसी जागरूकता पैदा करेगा कि सामाजिक समस्याओं के स्पष्टीकरण के लिये विशेषज्ञों की आवश्यकता नहीं होगी। ऐसी समस्याओं को तकनीकी लोग या अधिकारी नहीं सुलझा सकते चाहे वे राष्ट्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय के हों या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के। वास्तव में समीक्षात्मक सोच से यह जानकारी भी होती है कि स्पष्टीकरण पास ही मौजूद हैं सिर्फ़ उन्हें देखने और उन पर सोचने की हिम्मत चाहिये।

इस प्रकार से समीक्षात्मक ढंग से सोचने और सवाल पूछने वाले मस्तिष्क के अलावा तटस्थता का रुख अपनाने वाले रवैये का भी दोबारा से परीक्षण किया जाना चाहिये। अर्थात् यह विश्वास कि आप सामाजिक समस्याओं और अन्याय के सन्दर्भ में बीच का रास्ता अपना सकते हैं, या यह विश्वास कि एक

स्वास्थ्य कार्यकर्ता जब तक अपनी तकनीकी जानकारी का इस्तेमाल ईमानदारी से कर रही है वह गहरे सामाजिक मुद्दों की ओर ध्यान देने की ज़िम्मेदारी से बच सकती है। रक्कू की कहानी हमें इससे अलग ही बात बताती है। वह बताती है कि जब तक कोई अस्वस्थता के मूल की ओर ध्यान नहीं देती चाहे उसके इरादे कितने ही नेक क्यों न हों, वह वर्तमान समाज व्यवस्था के सदस्य और लाभकर्ता की हैसियत से उसी व्यवस्था को पालने की दोषी है और इस तरह से अस्वस्थता को बढ़ाने की भी। तब सवाल यह उठता है कि किस तरह से एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता अस्वस्थता के मूल के स्तर पर समाज में विभिन्न वर्गों के वैकल्पिक रिश्ते तैयार करने के काम में सहायक हो सकती है।

वर्तमान स्वास्थ्य कल्याण विचारधारा का परीक्षण:

समाज परिवर्तन कार्रवाई के जिस एक स्तर पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता काम कर सकती है वह है अस्वस्थता की सामाजिक-राजनीतिक व्याख्या में योगदान देकर अर्थात् अपने रोज़ाना के काम के दौरान सामने आने वाली स्वास्थ्य समस्याओं की सामाजिक जड़ों तक जाकर उनका विश्लेषण करे। उदाहरणार्थ कठिन प्रसव के लिये केन्द्र में लाई गई ग्रामीण औरत की अज्ञानता का रोना रोने के बजाय स्वास्थ्य कार्यकर्ता ग़रीबी की उन अड़चनों के बारे में बता सकती है जिनकी वजह से उसके परिवार वाले उसे जल्द ही इलाज के लिये नहीं लाये साथ ही वह यह भी बता सकती है कि किस प्रकार से स्वास्थ्य सेवा का संगठन भी कुछ अड़चनें पैदा करता है।

इसी तरह से इस तथ्य को स्वीकारने की भी ज़रूरत है कि समाज में स्वास्थ्य सुधार के क्षेत्र में चिकित्सा तकनीक की सीमित भूमिका है। स्वास्थ्य विशेषज्ञ यदि इस तरह का विश्लेषण प्रस्तुत करें तो उस आदर्श स्वास्थ्य धारणा को कमज़ोर किया जा सकता है जो आज भी हावी है तथा स्थिति को जैसे का तैसा बनाये रखती है। स्वास्थ्य संगठनों और सरकारी स्वास्थ्य नीतियों के सोचने के ढंग तथा विषयवस्तु को निरन्तर उजागर करने तथा चुनौती देने की आवश्यकता है। वह पूरा क्षेत्र इतना नज़रअन्दाज़ किया जाता रहा है कि यहाँ एक उदाहरण के बारे में विस्तार से बताना गलत नहीं होगा। अध्याय सात में "स्वास्थ्य के आदर्श नमूने" की समीक्षा करते हुए हमने देखा कि किस प्रकार से विचार धाराएं शारीरिक व सामाजिक सच्चाइयों की व्याख्या का स्वरूप परिवर्तन कर सकती हैं। ग़रीबी की सीमा रेखा के बारे में चल रही वर्तमान बहस पर इस प्रकार का धारणात्मक प्रभाव साफ़ नज़र आता है। इस बहस में स्वास्थ्य व

राजनीति से सम्बन्धित गंभीर आशय है। इसी बहस के अन्तर्गत दांडेकर तथा रथ की 1971 की रिपोर्ट, भारत में ग़रीबी सीमा रेखा को पोषण की मात्रा के सन्दर्भ में मापती है जबकि सुखात्मे ने उसकी आलोचना की है। सुखात्मे की मान्यता है कि जितना पर्याप्त मात्रा में पोषित व्यक्ति का वज़न होना चाहिये उसकी तुलना में काफ़ी बड़ी संख्या में लोग कम वज़न वाले हैं परन्तु उनका कहना है कि बहुत से ग़रीब लोगों के शरीर को कम मात्रा में भोजन की आदत हो गई है और वास्तव में वे अस्वस्थ नहीं है। (कम मात्रा में भोजन पाने वाले बच्चों का डील डौल औसत बच्चों की तुलना में छोटा ज़रूर है परन्तु यह मानना कि वे अल्पपोषित हैं या खून की कमी के शिकार हैं या अन्य किसी तरह से अस्वस्थ हैं, उनके खून की जाँच से ग़लत सिद्ध होता है।) अतः उनका निष्कर्ष है कि ग़रीबी की सीमा मापने के उद्देश्य से सामान्य वज़न वाले व्यक्तियों के लिये सरकार द्वारा निश्चित न्यूनतम आवश्यक भोजन मात्रा नीची होनी चाहिये (अपेक्षित भोजन आवश्यकता से तुलना करने से पहले उपभोग के आँकड़ों का, शारीरिक वज़न के साथ तालमेल बैठाना होगा) अन्य शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि ग़रीबी की परिभाषा देते समय ग़रीबों की समझौता करने की क्षमता को ध्यान में रखना चाहिये उनके लिये भी वही न्यूनतम पोषण स्तर लागू करना सही नहीं होगा जो पर्याप्त रूप से पोषित भारतीयों के लिये है। इसका अर्थ यह है कि अलग अलग तबके के लिये लोगों के भोजन की न्यूनतम मात्रा भी अलग होनी चाहिये।

दांडेकर का उत्तर ह कि सुखात्मे के सांख्यकीय तरीके व विश्लेषण ग़लत हैं। उनके तर्क का आधार हैं लोगों के बीच आपसी विभिन्नताओं पर आधारित उनके प्रयोगात्मक आँकड़े, परन्तु वे अपर्याप्त तथा अनुपयुक्त हैं। दांडेकर निहित स्वार्थों द्वारा झूठे वैज्ञानिक विश्लेषण का चोला धरने के खतरे की ओर भी इशारा करते हैं। इन दोनों स्थितियों के सही मूल्यांकन के लिये पाठकों को मूल पर्चों का अध्ययन करना चाहिये।

मैं दांडेकर के सोच का समर्थन करती हूँ। सुखात्मे के तर्कों से जो बात सामने आती है वह केवल सोचने का सांख्यकीय अस्पष्ट तरीका है। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि सुखात्मे के सिद्धान्त के परिणाम क्या हो सकते हैं? अनेक समीक्षकों ने चेतावनी दी है कि सुखात्मे के तर्कों से ग़रीबी को दोबारा परिभाषित करने की सरकारी नीति को सहारा मिलेगा ताकि ताक़तवर लोग ग़रीबी की समस्या को 'छोटा' करके दर्शाने के लिये शीघ्रता से भोजन की आवश्यक मात्रा को घटा देंगे, बल्कि उसे इस ढंग से परिभाषित करेगें कि कागज़ों पर

ग़रीबी का नामो निशान ही नहीं रहेगा। परन्तु एक तरीके से देखा जाये तो इस बहस का अपना महत्व है क्योंकि इसके माध्यम से यह पता लगता है कि किस तरह से धारणात्मक दृष्टिकोण सामाजिक मुद्दों के बारे में लोगों की समझ को ही बदल देते हैं और चूंकि इस विशेष सिद्धान्त को आगे बढ़ाने के लिये स्वास्थ्य स्तर का इस्तेमाल किया जा रहा है, इस बहस में स्वास्थ्य कार्यकर्ता की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।

धारणात्मक दृष्टिकोण से क्या तात्पर्य है ? धारणा का अर्थ है वह सामाजिक दृष्टिकोण तथा राजनैतिक विश्वास जो वैज्ञानिक नहीं है परन्तु उन विचारों और मूल्यों से निर्मित है जो अभिव्यक्ति देने वाले लोगों के सामाजिक रुतबे का परिणाम हैं अतः यह जानना महत्वपूर्ण हो जाता है कि ये विचार तथा मूल्य किन लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह वक्तव्य कि जनसंख्या के एक वर्ग के लिये कम शारीरिक वज़न भी समस्या नहीं है तथा यह जायज़ है, वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित नहीं है। (वास्तव में बच्चों और बड़ों में बीमारी व बालमृत्यु दर में बढ़ोतरी तथा आय व भोजन व्यय में कमी के बीच का सम्बन्ध बिल्कुल दूसरी ही बात बताता है।) अतः यह धारणात्मक दृष्टिकोण जैसा कि स्वयं सुखात्मे ने माना है, शारीरिक कार्रवाई तथा शारीरिक वज़न का अपेक्षित स्तर, संस्कृति, विचारधारा तथा ऐसे ही अन्य मुद्दों पर निर्भर करता है।

यहाँ ख़ास बात यह है कि सुखात्मे के निष्कर्ष अपने लिये नहीं हैं वे दूसरों यानि ग़रीब मज़दूरों की किस्मत का फैसला करते हैं। उनके दृष्टिकोण में ये दो बातें हैं। पहली तो यह कि शारीरिक जीवन के दो भिन्न स्तरों को सही साबित करना। दूसरी बात यह कि निचले पोषण स्तर पर जीने वालों के हाथ से अपने जीवन स्तर के चुनाव या दोहरे मापदण्डों को चुनौती देने की ताक़त छीन लिये जाने को, उनकी इस शक्ति हीनता को सही ठहराना। अतः सुखात्मे के तर्क शासक वर्ग की तथा शासक वर्ग के लिये विचारधारा है। सुखात्मे द्वारा 'भूख का मुद्दा क्यों महत्वपूर्ण है' इसकी व्याख्या के दौरान यह नज़रिया और भी स्पष्ट हो जाता है। उनका कहना है — "एक भूखा व्यक्ति सामाजिक बोझ है — वह काम नहीं कर सकता वह सामाजिक आर्थिक विकास की गति धीमी कर देता है।" इस प्रकार से सुखात्मे की नज़र में भूख का मतलब वह नहीं है जो सामान्य रूप से समझा जाता है। बैनर्जी के अध्ययन से मालूम होता है तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक आम भूमिहीन, सीमान्त किसान परिवार औसत रूप से ठीक वर्ष के दौरान भी अलग अलग समय में भुखमरी से कष्ट पाता है। यह बात ज़्यादातर गाँवों में साफ़ दिखाई देती है। ज़ाहिर है सुखात्मे इस

भूख की बात नहीं कर रहे हैं। तो फिर वे किस प्रकार की भूख से चिन्तित हैं। वह भूख जो समाज से पैदा होती है और उन्हीं के शब्दों में समाज पर बोझ है सरल भाषा में यों कहें वह भूख जो ग़रीबों की मेहनत करने की क्षमता को कम कर देती है और इस तरह से उन लोगों पर बोझ है जो उस मेहनत से मुनाफ़ा कमाते हैं अर्थात् वह भूख जो सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों की यथास्थिति के लिये खतरा बन सकती है। यानि विद्रोह को जन्म दे सकती है। सुखात्मे के तर्कों की विषयवस्तु पर रोशनी डालने से एक महत्वपूर्ण सवाल उठता है कि सामान्य समाज व्यवस्था में इस प्रकार के सोच कहाँ और किस सहारे पर उभरते हैं। दूसरे शब्दों में यह आश्चर्यजनक नहीं कि, एक व्यक्ति इस ढंग से सोचता है बल्कि यह कि इस प्रकार के दृष्टिकोण को शासक वर्ग तथा वैज्ञानिक समुदाय में भी बहुत ध्यान और सहानुभूति मिली है अतः इस पर समीक्षात्मक प्रतिक्रिया देना ज़रूरी होता जा रहा है।

सुखात्मे के दृष्टिकोण को सबसे अलग खड़ा करने वाला ख़ास मुद्दा है भिन्न-भिन्न शारीरिक जीवन यानि उसके अन्तर्गत शारीरिक तन्दुरूस्ती और जीवित रह पाने के अलग-अलग स्तरों को बुद्धिसंगत ठहराना। इस प्रकार की विचारधारा स्पष्टरूप से वर्गयुद्ध का ऐलान है फिर भी ऐसा स्पष्ट वक्तव्य कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि यह तो अपेक्षित ही है कि जैसे जैसे सामाजिक व्यवस्था में विरोधाभास बढ़ेगें और देश में आर्थिक व राजनीतिक संकट तीव्र होंगे, 'लोकतांत्रिक' व 'समाजवादी रास्ते' जैसे शब्दों को निकाल फेंका जायेगा। अतीत में इन शब्दों और नारों का उपयोग भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था के निहित स्वार्थों की सच्चाई को छिपाने के लिये किया जाता रहा था।

सुखात्मे एकाएक ग़रीबों की तकनीकी आवश्यकताओं (जैसे पानी, पर्यावरण स्वास्थ्य व स्वच्छता) पर ज़ोर देकर इस महत्वपूर्ण धारात्मक मुद्दे को एक ओर छोड़ देते हैं या एक प्रकार से बहस से निकाल देते हैं। इस तरह से आर्थिक ताक़त और उसके अन्तर्गत भोजन वितरण के मुख्य मुद्दे की तरफ़ से ध्यान हटा दिया जाता है उसके स्थान पर वे बहस को तकनीकी केन्द्र बिन्दु की ओर मोड़ देते हैं जो सुरक्षित विषय हैं सुरक्षित इसलिये क्योंकि इस प्रकार के लाभ को बाँटने वाले के रूप में पूरा नियंत्रण शासक वर्ग के हाथ में रहता है।

सामाजिक स्वास्थ्य शोध

स्वास्थ्य-सेवा तथा बीमारी से सम्बन्धित धारणात्मक दृष्टिकोण को उजागर करने के अलावा ग़रीबी और बीमारी के बीच सम्बन्ध पर भी बुनियादी शोध किया

जाना चाहिये। उदाहरण के लिये ग्रामीण व शहरी क्षेत्र में सामाजिक आर्थिक वर्गों के आधार पर तपेदिक से होने वाली मृत्यु के आँकड़े इकट्ठे किये जायें, इसमें उन गाँव वालों को भी जोड़ना होगा जो कभी तपेदिक अस्पताल तक पहुँच नहीं पाते और न ही उनका नाम मरीज़ों में दर्ज़ होता है। ऐसा ही एक और उदाहरण है— इस बात का लेखा जोखा रखा जाये कि ग़रीब मज़दूर आमतौर पर साल भर किस तरह का खाना खाते हैं तथा स्वास्थ्य पर उसका क्या असर पड़ता है या ग़रीब व्यक्ति को स्वास्थ्य सेवाएं पाने के लिये मज़दूरी का नुकसान, सफ़र का ख़र्च, कर्ज़ पर दिया सूद, दवाइयाँ साथ ही स्वैच्छिक स्वास्थ्य केन्द्रों द्वारा ली जाने वाली फ़ीस आदि के रूप में लगभग कितना ख़र्च करना पड़ता है इसका सावधानीपूर्वक विश्लेषण किया जाये।

इसके साथ ही यह आवश्यक है कि इस बुनियादी शोध के परिणाम वापिस उन लोगों तक पहुँचें जिनके जीवन के बारे में है; न कि स्वास्थ्य पत्रिकाओं और दस्तावेज़ों के पन्नों में खो जाये। इस प्रकार से सामाजिक स्वास्थ्य विश्लेषण के माध्यम से ग़रीबों के बीच बुनियादी सवाल उठाने, उनकी परेशानियों का सामूहिक विश्लेषण करने की शुरूआत करने तथा इस प्रकार के सवालों की प्रासंगिकता सिद्ध करने का बड़ा अच्छा मौका मिल सकता है। यह सच है कि वर्तमान स्वास्थ्य संस्थाओं के ढाँचे में सामाजिक स्वास्थ्य विश्लेषण के लिये बहुत सीमित अवसर हैं क्योंकि ज़ाहिर है इस तरह की कोशिशें बहुत से अधिकारियों व स्वयंसेवी स्वास्थ्य संस्थाओं के लिये तकलीफ़देह और खतरा भी हो सकती है अतः रोज़गार सुरक्षा पर इसके प्रभाव को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। वास्तव में वर्तमान व्यवस्था के भीतर इस प्रकार का विश्लेषण किस हद तक किया जा सकता है इसकी छानबीन होनी चाहिये।

यद्यपि सामाजिक स्वास्थ्यशोध अति आवश्यक व लाभप्रद होगा परन्तु उससे पूरी स्वास्थ्य सेवा में अथवा इस पेशे में बड़े परिवर्तनों की आशा करना क्या व्यावहारिक है? बाज़ार अर्थव्यवस्था के चौखटे में स्थित चिकित्सा पद्धति की अपनी एक व्यावहारगति बन जाती है जो सामाजिक प्रासंगिकता की ओर ध्यान देने की राह में रुकावट होती है तो फिर बड़े स्तर पर सामाजिक बदलाव के लिये क्या कार्रवाई की जा सकती है? क्या स्वास्थ्य गतिविधियों के घेरे के भीतर अस्वस्थता की 'जड़ों तक पहुँच कर कुछ काम किया जा सकता है? यह वास्तव में ऐसा प्रश्न है जो सामाजिक बदलाव में रुचि रखने वाले व्यक्तिगत स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं के लिये कुंजी की तरह हैं। किसी भी समस्या के समाधान में हिस्सा लेने के रास्ते की तुलना में उसकी पहचान करना हमेशा आसान होता है। आगे

आने वाले पृष्ठों में अनेक स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं तथा कर्मिकों के विचारों तथा अनुभवों की चर्चा की गई है ताकि यह जाना जा सके कि सामाजिक परिवर्तन के विस्तृत संघर्ष में स्वास्थ्य गतिविधियों की क्या भूमिका हो सकती है।

2. सामाजिक कार्रवाई : सामूहिक जुड़ाव

सामाजिक कार्रवाई — सामूहिक जुड़ाव केरल के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वास्थ्य बदलाव के लिये कार्यवाई में सामुहिक जुड़ाव निचले स्तर पर स्वास्थ्य साधनों के वितरण व उन सेवाओं की ज़िम्मेदारी के लिए आवश्यक है। इस तरह की संगठित प्रतिक्रिया से ही उन शक्तियों व हितों को चुनौती देने की उम्मीद की जा सकती है जो इस ढाँचे को सम्पोषित करते हैं। इस संघर्ष का समर्थन करना ही स्वास्थ्य कार्यकर्ता का मुख्य कार्य है। समुदाय में स्वास्थ्य कार्यकर्ता का मज़दूर परिवारों को प्रत्यक्ष रूप से समर्थन उनको शक्ति प्रदान करने का महत्वपूर्ण साधन हो सकता है। पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता किस हद तक समर्थनकर्ता की भूमिका अदा कर सकती है? पिछले कुछ सालों में विविध परिप्रेक्ष्य उभरे हैं।

स्वास्थ्य एक प्रवेश बिन्दु के रूप में :— जैसा कि हमने शुरू के अध्यायों में देखा है, स्वास्थ्य परियोजना का राष्ट्रीय स्तर पर अस्वस्थ्य कल्याण कार्यकर्ताओं को बड़े लाभप्रद ढ़ंग से समुदाय को राजनीतिक आधार पर संगठित करने वाले बिन्दुओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है चूँकि अस्वस्थता का मुद्दा कम घबराने वाला है (उदाहरण के लिये भूमि सुधार की तुलना में) अतः वे लोग सामूहिक संगठन तथा सवाल उठाने की प्रक्रिया आरंभ करने में सहायक हो सकते हैं। ऐसा तर्क दिया जाता है कि इस प्रकार के प्रयत्नों के माध्यमों से ग़रीबों में जागरूकता तथा एकता का आधार तैयार किया जा सकता है ताकि वे अधिक महत्वपूर्ण व कठिन सामाजिक मुद्दों का मुकाबला कर पायें।

परन्तु स्वास्थ्य कार्रवाइयों को ग़रीबों को संगठित व सक्रिय करने के प्रवेश बिन्दु के रूप में इस्तेमाल करने से कुछ ख़ास समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। पहली तो यह कि प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा देने से समुदाय की निर्भरता बढ़ती है परन्तु स्वास्थ्य आवश्यकताओं की ज़रूरत को समझते हुये इस निर्भरता को भी समझा जा सकता है क्योंकि यह मुद्दे जीवन और मरण के हैं परन्तु चूंकि पहले स्थान पर 'निर्भरता' ही वह स्थिति है जो अस्वस्थता का कारण है अतः आवश्यक हो जाता है कि ग़रीब ग्रामीण सामूहिक रूप से स्वयं स्वास्थ्य कार्यकर्ता की सहभागिता का नियंत्रण करें। यदि यह नियंत्रण वास्तविक है तो कुछ सीमा तक

यह वैकल्पिक कार्यवाइयों से बढ़ी निर्भरता का भर संतुलित कर सके। कम से कम सैद्धान्तिक रूप से यह सुझाव दिया गया है कि स्वास्थ्य प्रवेश बिन्दु के माध्यम से मज़दूर परिवार अपने आपको संगठित कर सकते हैं और फिर न्यूनतम मज़दूरी, पर्याप्त बाल कल्याण सुविधाएं, बाल केन्द्र आदि मुद्दों के लिये ज़ोर डाल सकते हैं परन्तु स्वास्थ्य प्रवेश बिन्दु से बड़े सामाजिक आर्थिक मुद्दों पर जाना आसान नहीं है। इस प्रकार की विस्तृत सक्रियता की राजनीतिक माँगें ऐसी हो सकती हैं कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता तथा वैयक्तिक गाँव वाले शायद पीछे हट जायें क्योंकि स्वास्थ्य परियोजना का अस्तित्व खतरे में पड़ने की आशंका हो परन्तु इस चरण पर आकर पीछे हटने का मतलब होगा कि स्वास्थ्य कार्रवाइयों का सामाजिक अर्थ नहीं रहेगा और ये कार्यवाइयाँ देश के सात लाख गाँवों में से केवल कुछ को स्वास्थ्य सेवाएं देने तक सीमित रह जायेगीं। इतनी सीमित सक्रियता न तो समुदाय में अस्वस्थता के बुनियादी कारणों को छू पायेगी और न ही सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में कोई योगदान दे सकेगी।

स्वास्थ्य मुद्दों से बड़े मुद्दों तक जाने के सफ़र की समस्याएं समान हैं। हाल में अनेक ग्रामीण स्वास्थ्य परियोजनाओं ने अस्वस्थता से आगे की कार्रवाई के साथ जुड़ी समस्याओं की चर्चा की है। इस प्रकार के अनुभवों ने "प्रवेश बिंदु परिकल्पना" की वैधता पर प्रश्नचिन्ह लगाया है। वास्तविकता में कुछ ही स्वास्थ्य परियोजनाएं ऐसी हैं जो स्वास्थ्य सेवाओं के अपने मूल केन्द्रबिन्दु से काफ़ी आगे तक बढ़ आई हैं। हम पहले उन संभावित कारणों की चर्चा कर चुके हैं जिनकी वजह से परियोजना चलाने वाले लोग बड़े आर्थिक राजनीतिक मुद्दों से अपने आपको अलग रखना चाहते हैं आंशिक रूप से उनकी यह अनिच्छा इसलिये हो सकती है कि स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपने समाजीकरण के तहत अब दमित लोगों के साथ समतावादी सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहती हों। साथ ही शायद उनका स्वास्थ्य कल्याण कार्य रुकावटें पैदा करता हो।

अनेक ग्रामीण परिवारों की ख़र्च करने वाली आय की तुलना में स्वास्थ्य कल्याण गतिविधियों की मँहगाई के कारण किसी न किसी प्रकार की बाहरी अर्थिक सहायता ज़रूरी होती है जिनके कारण गतिविधियों की कुछ सीमाएं तथा उन पर कुछ बंधन हो जाते हैं चाहे यह आर्थिक सहायता किसी विकास संस्था के माध्यम से हो अथवा रोगनाशक सेवा के लिये ली गई फ़ीस हो दूसरी ओर अधिक विस्तृत राजनीतिक कार्रवाई से पैदा तनाव के कारण इस प्रकार की आर्थिक सहायता मिलने में कठिनाई हो जाती है। इससे बड़ी दुविधा की स्थिति पैदा हो जाती है क्योंकि आखिर गाँववालों के लिये यह जीवन रक्षक सेवाएं पाने

का. प्रश्न है जैसे तपेदिक के मरीज़ के लिये दवाइयाँ। इस प्रकार की कार्रवाई का पक्ष लेने का अर्थ हो सकता है कि इलाज में रुकावट पड़े, साथ ही स्वास्थ्य परियोजना कर्मचारी भी अपनी नौकरी तथा आमदनी खतरे में पड़ने के डर से यह काम न करना चाहें। अतः इन कठिनाइयों की पहचान करना भी आवश्यक है क्योंकि कुछ स्वास्थ्य कार्यकर्ता इन्हें बहुत बड़ी रुकावट के रूप में देख सकती है।

उत्प्रेरक के रूप में स्वास्थ्य कार्यकर्ता:

शायद इन कठिनाइयों के जवाब में देश में अनेक स्वास्थ्य कार्यकर्ता एक विस्तृत सामाजिक गतिविधि के चौखटे के भीतर काम करना पसन्द कर रही हैं जहाँ उनका मुख्य काम होगा ग़रीब ग्रामीणों को राजनीतिक रूप से संगठित करना। उस गतिविधि के भीतर वे स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करने के काम को अनेक में से एक मुद्दे के रूप में देखेंगी जिसके आधार पर ग़रीबों को संगठित व सक्रिय किया जा सके।

इस स्तर पर काम करने का निर्णय लेने के बाद कार्यकर्ता सामाजिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन लाने के उद्देश्य से मज़दूर परिवारों के साथ काम करने के लिये प्रतिबद्ध होगी। इस प्रकार से स्वास्थ्य कार्यकर्ता 'उत्प्रेरक' की भूमिका स्वीकार करेगी। बाकी के पृष्ठों में हम सामाजिक रूप से प्रतिबद्ध इस कार्यकर्ता को "उत्प्रेरक स्वास्थ्य कार्यकर्ता" कहेगें। इस विस्तृत राजनीतिक प्रक्रिया के भीतर काम करने के निर्णय का अर्थ होगा कि वैयक्तिक कार्यकर्ता, ग्रामवासी तथा समुदाय से बाहर के उत्प्रेरकों से मिल कर एक बड़े दल का सदस्य बन कर काम करना। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के उत्प्रेरक स्वास्थ्य कार्यकर्ता से क्या अपेक्षाएं होंगी? समाज के विभिन्न वर्गों के बीच वैकल्पिक सम्बन्धों की माँग करने के लिये सामाजिक कार्रवाई में हिस्सा लेने के लिये ज़रूरी है कि इस समाज व्यवस्था में पहले अपनी जगह को पहचाने। शिक्षित उच्च वर्ग के हुनरमन्द सदस्य की हैसियत से स्वास्थ्य कार्यकर्ता स्वयं भी दबावकारी वर्ग से सम्बन्ध रखती है अतः यह ज़रूरी है कि वह पहले अपने वर्ग से मिली मान्यताओं और सोचने के ढंग से अलग हो सके जैसे वरिष्ठता की भावना, अधिकार व नियंत्रण की इच्छा, ग़रीबों के प्रति बड़प्पन युक्त रवैया आदि। जब कि शुरू से ही गाँव वालों के साथ स्वास्थ्य कार्यकर्ता का वास्तविक समानता तथा आपसी आदर पर आधारित रिश्ता क़ायम होगा तभी उत्प्रेरक के रूप में वह गाँव वालों की उस पर पूर्ण निर्भरता को रोक पायेगी अन्यथा वे उसे अपने से ऊँची, विशेष योग्यताओं से युक्त व्यक्ति के रूप में देखेगें जो उन्हें कुछ दे सकती है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक कार्रवाई से जुड़ाव स्थापित करने के लिये शोषित

बहुसंख्यकों के प्रति गहरी प्रतिबद्धता की आवश्यकता है परन्तु यह दृष्टिकोण तभी हो सकता है जबकि सामाजिक परिवर्तनों की ऐतिहासिक प्रक्रिया की समझ हो। दमितों के लिये प्रतिबद्धता का अर्थ है अधिक सम्पूर्ण मानवीय समाज बनाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया में सहभागिता। इस प्रकार से उत्प्रेरक स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिये भारत में सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया की सैद्धान्तिक समझ भी आवश्यक है। सैद्धान्तिक समझ से तात्पर्य है कि-ग़रीबी क्यों बढ़ रही है, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से किन्हें लाभ हो रहा है तथा जिन्हें लाभ नहीं हो रहा उनके हितों का व अन्य मुद्दों का गहरा अध्ययन हो। इसके अन्तर्गत उन हालात का विश्लेषण भी हो जिनके तहत ग़रीब, आर्थिक शोषण तथा असमानता और उन्हें सही साबित करने वाले परम्परागत विश्वासों की वैधता पर प्रश्न उठाते हैं और उन्हें नामंज़ूर कर देते हैं। इसका यह भी अर्थ है कि देश के विभिन्न भागों में बढ़ रही जागरूकता तथा कार्रवाइयों के पीछे काम कर रहे विभिन्न मुद्दों का विश्लेषण साथ ही राजनीतिक व जन आन्दोलन के रूप में परिवर्तन के लिये काम कर रही तथा बढ़ रही लोकप्रिय शक्तियों का अध्ययन।

ये सब बातें स्वास्थ्य कार्यकर्ता को एक बार फिर विद्यार्थी बनने के लिये मजबूर करेंगीं ताकि वह अस्वस्थता के लिये उत्तरदायी आर्थिक-राजनीतिक और सामाजिक शक्तियों का निरन्तर अध्ययन करे, उन्हें समझे। स्वास्थ्य कार्यकर्ता की तकनीकी जानकारी तथा उसकी योग्यताएं 'सामाजिक इलाज' के औज़ार के रूप में सहायक होंगें। जैसा कि शायद विरशाऊ ने सोचा था तथा काफ़ी सीमा तक कुछ समाजवादी देशों ने प्राप्त भी किया है। इस प्रकार से गहन तथा व्यावहारिक सामाजिक विश्लेषण पर आधारित, सामाजिक परिवर्तन की कार्रवाई में स्वास्थ्य कार्यकर्ता का क्या विशेष योगदान होगा? विस्तृत आन्दोलन के भीतर विशिष्ट स्वास्थ्य कार्रवाई सबसे पहले यह चेतना पैदा करती है कि बच्चों और बड़ों को छोटी मोटी बीमारियों से मरने की क़तई ज़रूरत नहीं है इस प्रकार से स्वास्थ्य की ख़ास समस्याओं के लिये काम करने से उनके जीवन के हालात के बारे में पूर्णधारणाओं को बदलने में सहायता मिलेगी। इस तरह के अनुभवों के आधार पर आगे चल कर वे ग़रीबी तथा शोषण के बारे में भी सवाल उठा पायेगें। साथ ही उत्प्रेरक स्वास्थ्य कार्यकर्ता ग़रीबों को ऐसे सवाल उठाने के लिये प्रेरित कर सकती है कि वर्तमान स्वास्थ्य व्यवस्था में उन्हें स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया क्यों नहीं है। इस प्रकार के सामूहिक सवालों से लोग सरकार तथा सेवा व्यवस्था से इन सेवाओं की माँग कर सकते हैं। इस तरह की कार्रवाई से संगठन तथा संघर्ष की वैधता के प्रति चेतना मज़बूत होगी।

इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य मुद्दों पर लोगों को संगठित करने से दमितों में एकता पैदा करने का अवसर मिलता है क्योंकि अस्वस्थता के माध्यम से पता लगने वाले अन्याय की स्थिति सभी ग़रीब मज़दूरों के लिये एक समान है। अतः ख़ासतौर पर स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिये यह अच्छा मौका है कि वह ग़रीब समुदायों में विभिन्न जातियों, उपजातियों तथा ऐसे विभाजनों के बीच एकता पैदा करे जिनके कारण प्रायः ग़रीबी के असली स्रोतों की जानकारी नहीं होती। सच यह है कि रक्कू केवल एक अछूत के रूप में अपना बच्चा नहीं खोती बल्कि सभी ग़रीब मज़दूरों के साथ यही होता है चाहे उनकी जाति कोई भी हो।

परन्तु स्वास्थ्य मुद्दे पर लोगों को संगठित करने का तत्काल उद्देश्य समस्त स्वास्थ्य व्यवस्था को बदल देना नहीं हो सकता क्योंकि इस उद्देश्य के लिये सारे देश में इसी प्रकार के संगठनों की ज़रूरत होगी बल्कि अधिक आवश्यक उद्देश्य यह होगा कि लोगों की समझ में बदलाव की शुरूआत हो यानि न सिर्फ़ अस्वस्थता की अनिवार्यता बल्कि सामान्य रूप से समाज में उनकी शक्तिहीनता पर सवाल उठाने और उसे ठुकराने की दिशा में पहला कदम उठाया जाये।

उदाहरण के लिये बिहार के जन जातीय इलाके में काम कर रही उत्प्रेरकों के एक दल ने पाया कि लोगों की सबसे तत्काल ज़रूरतें स्वास्थ्य से जुड़ी हुई थीं। मलेरिया की बीमारी लोगों को बेहद शारीरिक कष्ट दे रही थी परन्तु वहाँ अनेक आर्थिक उलझनें भी थीं। मलेरिया का किस प्रकार इलाज किया जाये यह सिखाने की चेष्टा में उत्प्रेरक (उनमें से एक नर्स थी) लोगों का विश्वास प्राप्त करने में सफल हुईं। इस विश्वास को मज़बूत करते हुए उन्होंनें सामान्य रूप से सरकारी सेवाओं की कमी पर सवाल उठाने की शुरुआत की। शुरू में तो लोग स्वास्थ्य अधिकारियों के पास जाने के लिये एक जुट हुए। परन्तु धीरे-धीरे उनकी संगठन शक्ति आर्थिक और क़ानूनी मुद्दों की ओर मुड़ गई। वर्तमान स्वास्थ्य व्यवस्था से जवाबदेही के लिये दबाव समूह संगठित करने का महत्व, अस्वस्थता के ख़िलाफ़ संघर्ष में केवल एक छोटी सी तरकीब से कहीं ज़्यादा है इस प्रकार की कार्रवाई का गहरा अर्थ है कि लोग सक्रिय होने, विरोध करने, और ऐसी व्यवस्था को जो उनका हित नहीं करती चुनौती देने की अपनी सामूहिक शक्ति को पहचानने लगते हैं। जैसा कि तमिलनाडू के एक ग्रामीण उत्प्रेरक ने बताया, कुछ नीतिगत कारणों से पहले तो, ख़ासतौर पर सामाजिक समस्याओं के ख़िलाफ़ संगठित होने पर ज़ोर दिया गया। परिणामस्वरूप लोगों ने एक जुट होकर अपने अधिकारों के लिये सरकारी अफ़सरों से बात की। यह अपने आपमें उद्देश्य नहीं है परन्तु समाज के सम्पूर्ण परिवर्तन के संघर्ष को आगे बढ़ाने के

लिये आवश्यक आत्मविश्वास पैदा करने व आशा जगाने का ज़रिया ज़रूर है।

इस प्रकार उत्प्रेरक स्वास्थ्य कार्यकर्ता अपने रोज़मर्रा के काम की मार्फ़त ग़रीब समुदाय की सामाजिक व्यवस्था तथा उससे भी आगे बढ़कर भूख तथा अस्वस्थता की समझ पाने के लिये प्रोत्साहित कर सकती है। ऐसा करने में उत्प्रेरक को विभिन्न वर्गों के बीच सम्बन्ध देखने तथा इन सम्बन्धों को बदलने और मानवीय बनाने की अपनी क्षमता पहचानने का मौका मिल सकता है। तथापि अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में ग़रीब लोग जिन मुद्दों को तत्काल कार्रवाई के लिये चुनते हैं वे स्वास्थ्य मुद्दे नहीं होते। उदाहरण के लिये जिन इलाकों में बड़ी तादात में भूमिहीन मज़दूर हैं वहाँ आर्थिक मुद्दों पर शीघ्रता से लोगों को संगठित करना ज़्यादा आसान और सही होगा। जिन इलाकों में आर्थिक असमानताएं इतनी सख्त और साफ़ दिखाई देने वाली नहीं है वहाँ स्वास्थ्य मुद्दों को कार्रवाई का केन्द्र बिन्दु बनाना अधिक फ़ायदेमंद होगा।

भारत में ऐसे डाक्टरों और नर्सों की संख्या कम सही परन्तु अब बढ़ रही है जो अपनी तकनीकी योग्यता से जुड़ा काम छोड़ कर अब पूरा समय जनता के सामाजिक विश्लेषण तथा संगठन कार्य में लगा रहे हैं। उनके ये निर्णय ज़्यादातर गाँवों में स्वास्थ्य काम करने के पिछले अनुभवों पर आधारित होते हैं जिसमें उन्होने पाया कि आर्थिक राजनीतिक अन्याय अस्वस्थता को जन्म देता है। यह सही है, कि आवश्यक नहीं वे सभी स्वास्थ्य कार्यकर्ता जो सामाजिक न्याय में रुचि रखते हों इसी प्रकार से प्रतिबद्ध भी होगें फिर भी प्रगतिशील स्वास्थ्य कार्रवाई का एक चौखटा स्पष्ट हो गया है— वह कार्रवाई जो दमितों में शक्ति बढ़ाये ताकि वे वर्तमान स्वास्थ्य व्यवस्था को बदलने के लिये सामूहिक रूप से सामना करें।

3. जागरूकता लाने की प्रक्रिया तथा संगठन

सामाजिक बदलाव का केन्द्रबिन्दु है ग़रीबों का संगठन परन्तु दमित लोग प्रभावकारी ढंग से संगठित हो सकें उसके लिये उनके बीच में किसी ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति आवश्यक है जो केवल नैतिक सहारा देने से कुछ अधिक कर सके। इसके लिये जागरूकता बढ़ाने की तकलीफ़देह प्रक्रिया की ज़रूरत भी होती है। दुर्भाग्य से 'जागरूकता वृद्धि' शब्द प्रचलित विकास शब्दावली का हिस्सा बन कर सतही अर्थ पा गया है। यहाँ हम इसके मूल अर्थ को समझने की कोशिश करेंगे। पीढ़ियों तक अनिश्चितता में जीने और दूसरों पर निर्भर रहने के बाद ग़रीब लोग उनकी ज़िन्दगी पर नियंत्रण करने वाली ताक़तों को चुनौती

देने से डरते हैं। वह डर जो पूर्णतः बुद्धिसम्मत है। दिहाड़ी मज़दूरों के लिये डर का कारण है, ज़िन्दा रहने के लिये किसी भी प्रकार के अन्य विकल्प का अभाव, इसलिये वे हालात को स्वीकार कर लेते हैं और अपने दमन के लिये दिये जाने वाले सामाजिक कारण में विश्वास भी करने लगते हैं जैसे कि शारीरिक श्रम घटिया होता है। भारत में यह विश्वास जाति व्यवस्था के रूप में साफ़ दिखाई देता है।

रक्कू के बच्चे की मौत का दुख और उसके लिये कुछ कर पाने में असमर्थता उसे मजबूर करती है कि वह 'भाग्य' और 'कर्म' को इस असह्य कष्ट के स्पष्टीकरण के तौर पर स्वीकार कर ले हालांकि बच्चे की मौत की असली वजह वह जानती है।

अपनी हीनता स्वीकारने के साथ ही ग़रीब सामाजिक और मानवीय सच्चाइयों के लिये दमनकारियों द्वारा दी गई सफ़ाई को स्वाभाविक मान लेते हैं। वे इस दुनियाँ को दमनकारियों (जो दूसरों के श्रम पर नियंत्रण करते हैं) तथा दमितों (जो अपना श्रम ही नहीं जीवन बेचने के लिये भी मजबूर हैं) के बीच बाँट कर देखना सीख लेते हैं। आश्चर्य नहीं है कि संगठन के आरंभिक प्रयत्नों के दौरान ग़रीब लोग संघर्ष के उद्देश्य को अपने अपने सन्दर्भ में देखने लगते हैं। वर्तमान व्यवस्थाओं के आगे घुटने टेक देने के कारण उनके लिये वर्ग विहीन तथा दमन विहीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना भी कठिन है।

जैसे कि रक्कू अपने संघर्ष को केवल अपने ही सन्दर्भ में देखती है फिर भी उसके दुखों की मूक चेतना वही है जो उसके समुदाय के सभी मज़दूरों की है। वह जानती है कि स्वस्थ तथा तगड़े बच्चों के परिवारों तथा उसके अपने जैसे परिवारों, जिनके बच्चे स्वस्थ नहीं है, में क्या फ़र्क है। परन्तु उसकी जानकारी अभिव्यक्त नहीं हो पाती। जागरूकता वृद्धि की प्रक्रिया कई रक्कुओं को एक साथ जोड़ती है जिससे उनके अपने व्यक्तिगत संघर्षों का समीक्षात्मक अध्ययन और उसकी अभिव्यक्ति संभव हो पाती है। वे एक दूसरे के सहारे बोल पाती हैं और साथ ही इस प्रकार के अनुभव उनके साझे कष्टों के मूल की समझ भी पैदा करते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि उनके समुदाय के भीतर तथा बाहर के शोषणकारी शक्ति ढाँचों को चुनौती देने की सामूहिक कार्रवाई संभव हो पाती है।

इस विश्लेषण में जागरूकता वृद्धि की प्रक्रिया का उतना गहन अध्ययन नहीं किया जायेगा जितना होना चाहिये परन्तु उसके स्थान पर पाठकों को देश में चल रहे कुछ लोकप्रिय आन्दोलनों का हवाला देंगें। हालांकि यह दुर्भाग्य है कि देश के अनेक लोकप्रिय आन्दोलनों का विस्तृत लेखा जोखा बहुत कम हो पाया

है उसी से पता चलता है कि इस तरह की कार्रवाइयों में कितनी कठिनाइयाँ आती हैं।

यद्यपि शब्द जागरूकता वृद्धि (कॉशसनैस रेज़िंग) प्रायः फ्रेरे के लेखन के साथ जुड़ा हुआ है। इसका अर्थ एक ऐसी प्रक्रिया से है जो इस सदी में भारत के कुछ राजनीतिक जन आन्दोलनों का हिस्सा रही है। हमने संक्षेप में जागरूकता वृद्धि तथा विश्वसनीय स्वास्थ्य जुड़ाव की संभावनाओं के बारे में जाना तथा उसके प्रभाव को समझा। सामाजिक कार्रवाई की बात करने का अर्थ है उससे जुड़ी कठिनाइयों और ख़तरों को स्वीकारना।

इसके विरोध की आशा समुदाय के बाहर तथा भीतर दोनों ओर से करनी चाहिये। बाहर से स्वास्थ्य व राजनीतिक पेशे के संकट में पड़े हितों की ओर से तथा अधिक प्रत्यक्ष रूप में भीतर के उन लोगों से जिन्हें ग़रीबों के जागरूक व ताक़तवर हो जाने से अपने हितों के खतरे में पड़ने का डर हो। जब तक कि इस काम से जुड़े लोग अवश्यम्भावी तनावों से निपटने के लिये तैयार न हों, यह प्रक्रिया काफ़ी घबराने वाली हो सकती है। इस प्रकार प्रतिबद्ध स्वास्थ्य कार्यकर्ता के लिये बुनियादी प्रशिक्षण उतना ही ज़रूरी है जितना साक्षरता कार्यकर्ता या श्रम संगठनकर्ता के लिये। दुर्भाग्य से ज़्यादातर पेशेवर स्वास्थ्य कार्यकर्ता सांस्कृतिक तथा धारणात्मक रूप से इस तरह के काम के लिये 'तैयार' नहीं होते अतः हुनर सीखने व विश्लेषण पद्धति जानने की ज़रूरत और भी अधिक हो जाती है।

□□□